॥ धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है ॥

आत्मधर्म

वर्ष तीसरा
अंक नववां

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

पौष
२४७४

पाँच हजार तत्त्व जिज्ञासुओं को अपूर्व भेंट

वस्तुविज्ञानसार

जगत् में सत्य वस्तु विज्ञान का प्रचुर प्रचार हो, और मानवों के ध्यान में सत्य तत्त्वज्ञान आ जाये, इस भावना से वस्तुविज्ञानसार नामक आध्यात्मिक ग्रंथ गुजराती और हिन्दी भाषा में बहुत बड़ी संख्या में छपाकर तैयार किया गया है, जो कि अमूल्य ही–भेंट दिया जायेगा। इस ग्रंथ में अध्यात्मवेत्ता पूज्य श्री कानजी स्वामी के ७ आध्यात्मिक प्रवचनों का संग्रह है।

जगत के बहुत से जीवों की आत्मकल्याण करने की भावना होती है, किन्तु यथार्थ तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के अभाव से वे आत्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते, इसलिये या तो वे आकुलित बने रहते हैं या फिर विपरीत मार्ग में फँस जाते हैं।

ऐसे आत्मार्थी मनुष्य मूलभूत तत्त्वज्ञान को पढ़ें, विचारें, और उसका निर्णय करके आत्मज्ञान को प्राप्त करें, तथा निःशंकतया आत्मकल्याण के मार्ग पर चल सकें–ऐसी उत्कट शुभ भावना से प्रेरित होकर यह पुस्तक मुद्रित कराई गई है। इसमें अत्यन्त महत्वपूर्ण मूलभूत वस्तुनियमों का दोहन करके रखा गया है; इसे प्राप्त करके और इस पर विचार करने तथा समझने से अवश्यमेव स्वसन्मुख परिणति प्राप्त होगी।

इस पुस्तक में दिये गये विषयों के सम्बन्ध में विशेष स्पष्टीकरण इसी अंक में मुद्रित 'वस्तु–विज्ञानसार' नामक प्रस्तावना–लेख से ज्ञात कीजिये।

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

शाश्वत सुख का मार्ग ३३ दर्शक मासिक पत्र

छुटक अंक पांच आना

आ त्म ध र्म का र्या ल य — मो टा आं क ड़ि या — का ठि या वा ड़

वस्तु-विज्ञानसार प्रस्तावना

यथार्थ वस्तु विज्ञान का रहस्य प्राप्त किये बिना चाहे जितना प्रयत्न किया जाये, चाहे जितना व्रत, नियम, तप, त्याग, वैराग्य, भक्ति और शास्त्राभ्यास किया जाये तो भी जीव का एक भी भव कम नहीं होता। इसलिये इस मनुष्य भव में जीव का मुख्य कर्तव्य यथार्थतया वस्तुविज्ञान प्राप्त कर लेना है। वीतराग सर्वज्ञ के द्वारा स्वयं प्रत्यक्ष जानकर उपदिष्ट वस्तुविज्ञान विशाल है, और वह अनेक आगमों में विस्तरित है। अनेक आगमों के अभ्यासी भी प्रायः उस वस्तुविज्ञान का वास्तविक रहस्य नहीं निकाल पाते, इसलिये उस विशाल वस्तुविज्ञान का रहस्यभूत सार इस पुस्तक में (वस्तु-विज्ञानसार में) दिया गया है।

इस पुस्तक में निम्नलिखित रहस्यभूत विषयों को विशेष स्पष्ट किया गया है:—

विश्व का प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है। सामान्य स्वयं ही विशेषरूप से परिणमित होता है। विशेषरूप से परिणमित होने में अन्य किसी भी पदार्थ की उसे वास्तव में किंचित्मात्र भी सहायता आवश्यक नहीं होती। पदार्थ मात्र निरपेक्ष है।

इस प्रकार सर्व स्वतंत्र होने पर भी, विश्व में अन्धकार नहीं-प्रकाश है, अकस्मात् नहीं-न्याय है, इसलिये 'पुण्य-भावरूप विशेष में परिणमित होने वाले जीवद्रव्य को अमुक (अनुकूल कही जाने वाली) सामग्री का ही संयोग प्राप्त होता है, पाप भावरूप विशेष में परिणमित होने वाले जीवद्रव्य को अमुक (प्रतिकूल कही जाने वाली) सामग्री का ही संयोग होता है, शुद्धभावरूप विशेष में परिणमित होने वाले जीवद्रव्य के कर्मादिक संयोग का अभाव ही होता है'—इत्यादि अनेकानेक प्रकार का सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध विश्व के पदार्थों में पाया जाता है। निमित्त नैमित्तिक रूप से प्रवर्तमान पदार्थों में लेशमात्र भी परतन्त्रता नहीं है। सब अपने-अपने विशेषरूप से ही स्वतंत्रतया एवं न्याय संगतरूप से परिणमित होते रहते हैं।

ऐसा होने से जीवद्रव्य, देहादि की क्रिया तो कर ही नहीं सकता, वह मात्र अपने विशेष को ही कर सकता है। संकल्प-विकल्परूप विशेष दुःखमार्ग है, विपरीत पुरुषार्थ है। जगत के स्वरूप को न्यायसंगत और नियत जानकर और यह निर्णय करके कि—पर में अपना कोई कर्तृत्व नहीं है, निज द्रव्य सामान्य की श्रद्धारूप से परिणमित होकर उसमें लीन हो जानेरूप जो विशेष, वही सुख पन्थ है, वही परम पुरुषार्थ है। अज्ञानियों को परपदार्थ का परिवर्तन कर सकने में ही पुरुषार्थ भासित होता है, संकल्प-विकल्पों की तरंगों में ही पुरुषार्थ प्रतीत होता है, परन्तु जिसमें विश्व के

सर्व भावों की नियतता का निर्णय गर्भित है–ऐसी द्रव्य सामान्य की श्रद्धा करके उसमें डूब जाने का जो यथार्थ परम पुरुषार्थ है, वह उसके ध्यान में ही नहीं आता।

और फिर जीवों ने आगमों में से उपरोक्त बातों की धारणा भी अनन्तबार कर ली है, परन्तु सर्व आगमों के सारभूत स्वद्रव्य सामान्य का यथार्थ निर्णय करके उसका रुचिरूप परिणमन नहीं किया। यदि उस रूप परिणमन किया होता तो संसार परिभ्रमण नहीं होता।

ऐसी वस्तुविज्ञान की अनेक परम हितकारक, रहस्यभूत, साररूप बातें इस पुस्तक में स्पष्टतया समझायी गई है, इसलिये इस पुस्तक का नाम 'वस्तुविज्ञानसार' रखा गया है। परम पूज्य अध्यात्मयोगी श्री कानजी स्वामी सोनगढ़ में मुमुक्षुओं के समक्ष सदा जो आध्यात्मिक प्रवचन करते हैं, उनमें से वस्तु विज्ञान के सारभूत कुछ प्रवचन इस पुस्तक में प्रकाशित किये गये हैं। जो मुमुक्षु इनमें कथित विज्ञानसार का अभ्यास करके, चिंतन करके निर्बाध युक्तिरूप प्रयोग से सिद्ध करके, निर्णीत करके चैतन्य सामान्य की रुचिरूप परिणमित होकर उसमें लीन होंगे, वे अवश्य शाश्वत् परमानन्द दशा को प्राप्त होंगे।

जो जीव, शारीरिक क्रियाकांड में या बाह्य प्रवृत्तियों में धर्म का अंश भी मानते हों, जो वैराग्य भक्ति आदि शुभभावों में धर्म मानते हों, जो शुभभाव में धर्म को किंचित्मात्र कारण मानते हों, और जो जीव निर्णय के बिना ही शास्त्रों की मात्र धारणा से किंचित् धर्म मानते हों, वे सभी प्रकार के जीव इस पुस्तक में कहे गये परम प्रयोजनभूत भावों को जिज्ञासुभाव से शांतिपूर्वक गम्भीरतया विचार करें और अनन्त काल से चली आनेवाली मूलभूत भूल कितनी सूक्ष्म है, तथा वह किस प्रकार के अपूर्व परम सम्यक् पुरुषार्थ को चाहती है, उसे समझकर निज कल्याण करें। इसी में मानव जीवन की सफलता है।

रामजी माणेकचंद दोशी, अध्यक्ष
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (काठियावाड़)

मगसिर शुक्ला पूर्णिमा
वीर संवत् २४७४

पाँच हजार पते चाहिये

हमें हिन्दी भाषा के जानकार ऐसे ५००० जिज्ञासुओं के नाम–पतों की आवश्यकता है, जिनकी आध्यात्मिक रुचि हो, और जो ऐसे प्रवचनों को भली भांति पढ़ सकें तथा उनका मनन कर सकें। आत्मधर्म के पाठकों से निवेदन है कि वे अपने ऐसे परिचित भाई–बहिनों के पते लिखकर आत्मधर्म कार्यालय–मोटा आंकडिया–काठियावाड़ के पते पर भेजने की कृपा करें!

—: मुमुक्षु की आत्मजागृति :—

मुमुक्षु जीवों को परम शांत शुद्ध आत्मस्वरूप की ही रुचि होती है, विकार की रुचि नहीं होती; इसलिये उनके सदा ऐसी स्वरूप की जागृति बनी रहती है कि वे स्वरूप को भूलकर किसी कार्य में एकमेक नहीं हो जाते–उसमें तन्मय बुद्धि नहीं करते। उनके अंतरंग में आत्मा की अपेक्षा किसी भी अन्य पदार्थ की अधिक महिमा नहीं होती। यद्यपि कषाय होती है, किन्तु किसी कार्य में कषाय को लेकर वेग नहीं होना चाहिये। मुमुक्षुओं को पर्याय की ओर का अर्थात् विकार की ओर का इतना अधिक वेग कदापि नहीं होता कि जिससे ज्ञानस्वरूप की रुचि ही ढ़क जाये। ज्ञान और राग की भिन्नता का अनुभव करने का अभ्यास उनके सदा जागृत रहता है। मुमुक्षु के परिणाम में आकुलता तो होती है किन्तु वह यह देखने के लिये ज्ञान को सदा जागृत रखता है कि किस अवसर पर अपने परिणाम में कितनी आकुलता होती है; और उस आकुलता के लिये उसे खेद भी होता है। इस प्रकार ज्ञान और आकुलता के बीच के भेदज्ञान के बारम्बार अभ्यास के द्वारा वह अल्प काल में ही अवश्यमेव परम शांति–आत्मानुभव को प्राप्त करता है। मुमुक्षु दशा का ऐसा स्वरूप है।

—श्री कानजी स्वामी

जैनशासन की वर्तमान परिस्थिति पर विहंगम दृष्टि

वर्तमान में नयाधिराज निश्चयनय को लकवा मार गया!

सम्पादकीय

निश्चय और व्यवहार–दोनों नयों का यथार्थ ज्ञान करके निश्चय का आश्रय (निश्चय के विषयभूत शुद्धात्मस्वभाव का आश्रय) लेना और व्यवहार का निषेध करना ही जैन तत्त्व का तात्पर्य है; और ऐसा करने से ही धर्म का प्रारम्भ, साधक दशा और पूर्णता होती है, यही निश्चयनय और व्यवहारनय की अविरोधसंधि है। ऐसा होने पर भी, आधुनिक जैन समाज में नयाधिराज निश्चयनय पक्षाघात के तीव्र रोग से आक्रान्त हो रहा है; और अधिकांश जन उस रोग का यथार्थ स्वरूप नहीं जानते, इसलिये उस रोग का निवारण करने की जगह उल्टा उसे पुष्ट करके उसकी वृद्धि कर रहे हैं; तथा जैन संप्रदायों के नाम पर प्रसिद्ध होने वाले बहुभाग पत्रों की प्रवृत्ति भी लौकिक कथन और संसारवर्द्धक प्रचार की ओर बलपूर्वक तीव्र गति से चलती हुई दिखाई देती है। इसप्रकार, जैनशासन की वर्तमान दशा अन्धाधुन्ध, अस्त व्यस्त और विपरीत हो रही है। समाज

यथार्थ तत्त्वज्ञान से और उसके यथार्थ अभ्यास से लगभग वंचित है। धर्म के सच्चे उपदेशकों की बहुत भारी कमी दिखाई देती है। लोगों को भी ऐसी बुरी आदत पड़ गई है कि—धर्म के नाम पर कोई भी उपदेशक नामधारी जो कुछ भी कह देता है, उसकी परीक्षा किये बिना वे उसे सच मान लेते हैं। इसी प्रकार परम्परागत-कुलधर्म के नाम पर प्रचलित लेखों-पुस्तकों और शास्त्राभासों को भी परीक्षा किये बिना यथार्थ मान लेने का घातक अभ्यास बना हुआ है! किन्तु यह आत्मकल्याण का उपाय नहीं है। नयाधिराज निश्चयनय को जो रोग लग गया है, वह उससे नहीं मिटेगा, और यह रोग मिटे बिना आत्मकल्याण नहीं होगा। इसलिये:—

हे आत्मार्थी जीवों!

जागो, विचारो, समझो और अपने पुरुषार्थ को सफल करो। यह अमूल्य अवसर निरर्थक चला जा रहा है; ऐसा सुयोग बारम्बार नहीं मिलता, इसलिये अपने ज्ञान की परीक्षा शक्ति का विकास करके सत्य का संशोधन करो, तत्त्व का अभ्यास करो, तुलनात्मक शक्ति को बढ़ाओ, उसका विकास करो, अन्धश्रद्धा से चाहे जो कुछ मान लेने की कुटेव को छोड़ो, और सत्यासत्य का यथार्थ निर्णय करके सत्य तत्त्वज्ञान को प्राप्त करो:—

जिससे जैनशासन के नाम पर चलने वाले अजैन प्रचार का बल स्वयं हट जाये, और जैनशासन उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो। यदि जैनसमाज समय रहते जागृत होकर शीघ्र ही इस और अपना लक्ष नहीं बदलेगी तो यह अमूल्य समय (सुयोग) चला जायेगा और परमकल्याणकारी सच्चे जैन तत्त्वज्ञान की प्रभावना करने का तथा निज आत्मकल्याण करने का यह प्राप्त महान सुअवसर व्यर्थ चला जायेगा, इसलिये हे वीर पुत्रो!

जागो..... और..... समझो!

स्वभावानुभव करने की रीति

पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचन का सार

सिद्ध भगवान ज्ञान से सब कुछ मात्र जानते ही हैं, उनके ज्ञान में न तो विकल्प होता है, न रागद्वेष होता है और न कर्तृत्व की मान्यता होती है। इसी प्रकार समस्त आत्माओं का स्वभाव सिद्धों की ही भाँति ज्ञातृत्वभाव से मात्र जानना ही है। जो इस तत्त्व को जानता है, वह जीव अपने ज्ञान-स्वभाव में उन्मुख होकर सर्व विकल्पादि का निषेध करता है। उसके ज्ञानस्वभाव में एकत्वबुद्धि प्रगट हुई है और विकल्प की एकत्वबुद्धि टूट गई है; अब जो विकल्प आते हैं, उन सब का निषेध करता हुआ आगे बढ़ता है। साधक जीव यह जानता है कि सिद्ध का और मेरा स्वभाव समान ही है; क्योंकि सिद्धों में विकल्प नहीं है; अत: वे मुझमें भी नहीं हैं, इसलिये मैं अभी ही अपने स्वभाव के बल से उनका निषेध करता हूँ। मेरे ज्ञान में सभी रागादि का निषेध करता हूँ। मेरे ज्ञान में सभी रागादि का निषेध ही है। जैसे सिद्ध भगवान मात्र चैतन्य हैं, उसी प्रकार मैं भी मात्र चैतन्य को ही अंगीकार करता हूँ।

कभी भी स्वसन्मुख होकर सर्व पुण्य-पाप व्यवहार का निषेध करना, सो यही मोक्षमार्ग है, तब फिर अभी ही उसका निषेध क्यों न किया जाये? क्योंकि उसका निषेधरूप स्वभाव अभी ही परिपूर्ण विद्यमान है। वर्तमान में ही स्वभाव की प्रतीति करने पर पुण्य-पापादि व्यवहार का निषेध स्वयं हो जाता है। जो यह मानता है कि मैं अभी तो पुण्य-पापादि का निषेध नहीं करता किन्तु बाद में निषेध कर दूँगा, उसे स्वभाव के प्रति रुचि नहीं है किन्तु पुण्य-पाप की ही रुचि है। यदि तुझे स्वभाव के प्रति रुचि हो और समस्त पुण्य-पाप व्यवहार के निषेध की रुचि हो तो स्वभावोन्मुख होकर अभी ही निषेध करना योग्य है, ऐसा निर्णय कर। रुचि के लिये काल-मर्यादा नहीं होती। श्रद्धा हो किन्तु श्रद्धा का कार्य न हो, ऐसा नहीं हो सकता। हाँ, यह बात अलग है कि श्रद्धा में निषेध करने के बाद पुण्य-पाप के दूर होने में थोड़ा समय लग जाये, किन्तु जिसे स्वभाव की रुचि है और जिसकी ऐसी भावना है कि पुण्य-पाप के निषेध की श्रद्धा करने योग्य है-तो वह श्रद्धा में तो पुण्य-पाप का निषेध वर्तमान में ही करता है। यदि कोई वर्तमान में श्रद्धा में पुण्य-पाप का आदर करे तो उसके उनके निषेध की श्रद्धा ही कहाँ रही? श्रद्धा तो परिपूर्ण स्वभाव को ही वर्तमान मानती है।

जिसे स्वभाव की रुचि है-स्वभाव के प्रति आदर है और पुण्य-पाप के विकल्प के निषेध

की रुचि एवं आदर है, उसके अंतरंग से अधैर्य टूट जाता है। अब सम्पूर्ण स्वभाव की रुचि में बीच में जो कुछ भी राग-विकल्प उठता है, उसका निषेध करके स्वभावोन्मुख होना, सो यही एक कार्य रह जाता है। स्वभाव की श्रद्धा के बल से उसका निषेध किया सो किया, अब ऐसा कोई भी विकल्प या राग नहीं आ सकता कि जिसमें एकताबुद्धि हो। और एकत्वबुद्धि के बिना होनेवाले जो पुण्य-पाप के विकल्प हैं, उन्हें दूर करने के लिये श्रद्धा में अधैर्य नहीं होता, क्योंकि मेरे स्वभाव में वह कोई है ही नहीं-ऐसी जहाँ रुचि हुई कि फिर उसे दूर करने का अधैर्य कैसे रह सकता है? स्वभावोन्मुख होकर उसका निषेध किया है, इसलिये विकल्प अल्प काल में दूर हो ही जाता है। ऐसा विकल्प नहीं होता कि 'उसका निषेध करूँ' किन्तु स्वभाव में वह निषेधरूप ही है, इसलिये स्वभाव का अनुभव-विश्वास करने पर उसका निषेध स्वयं हो जाता है।

जहाँ आत्मस्वभाव की रुचि हुई कि वहीं पुण्य-पाप के निषेध की श्रद्धा हो जाती है। आत्मस्वभाव में पुण्य-पाप नहीं है, इसलिये आत्मा में पुण्य-पाप का निषेध करने योग्य है-ऐसी रुचि जहाँ हुई, वहीं श्रद्धा में पुण्य-पाप-व्यवहार का निषेध हो ही जाता है। रुचि और अनुभव के बीच जो विलम्ब होता है, उसका भी निषेध ही है। जिसे स्वभाव की रुचि हो गई है, उसे विकल्प को तोड़कर अनुभव करने में भले ही विलम्ब लगे, तथापि उन विकल्पों का तो उनके निषेध ही है। यदि विकल्प का निषेध न हो तो स्वभाव की रुचि कैसी? और यदि स्वभाव की रुचि के द्वारा विकल्प का निषेध होता है तो फिर उस विकल्प को तोड़कर अनुभव होने में उसे शंका कैसी? रुचि होने के बाद जो विकल्प रह जाता है, उसका भी रुचि निषेध ही करती है, इसलिये रुचि और अनुभव के बीच काल भेद की स्वीकृति नहीं है। जिसे स्वभाव की रुचि हो गई है, उसे रुचि और अनुभव के बीच जो अल्पकालिक विकल्प होता है, उसका रुचि में निषेध है; इस प्रकार जिसे स्वभाव की रुचि हो गई है, उसे अंतरंग से अधैर्य नहीं होता, किन्तु स्वभाव की रुचि के बल से ही वह शेष विकल्पों को तोड़कर अल्प काल में स्वभाव का प्रगट अनुभव करता है।

आत्मा के स्वभाव में व्यवहार का, राग का, विकल्प का निषेध है-अभाव है, तथापि जो व्यवहार को, राग को, या विकल्प को आदरणीय मानता है, उसे स्वभाव की रुचि नहीं है, और इसलिये वह जीव, व्यवहार का निषेध करके कभी भी स्वभावोन्मुख नहीं हो सकेगा। सिद्ध भगवान के रागादि का सर्वथा अभाव ही हो गया है, इसलिये उन्हें अब व्यवहार का निषेध करके स्वभावोन्मुख होना शेष नहीं रह गया है। किन्तु साधक जीव के पर्याय में रागादि विकल्प और

व्यवहार विद्यमान है, इसलिये उसे उस व्यवहार का निषेध करके स्वभावोन्मुख होना है।

हे जीव! यदि स्वभाव में सब पुण्य-पाप इत्यादि का निषेध ही है तो फिर मोक्षार्थी के ऐसा आलम्बन नहीं हो सकता है कि—'अभी कोई भी व्यवहार या शास्त्राभ्यास इत्यादि कर लूँ, फिर उसका निषेध कर लूँगा।' इसलिये तू पराश्रित व्यवहार का अवलम्बन छोड़कर स्पष्ट-सीधा चैतन्य को स्पर्श कर और किसी भी वृत्ति के आलम्बन की शल्य में न अटक। सिद्ध भगवान की भाँति तेरे स्वभाव में मात्र चैतन्य है, उस चैतन्यस्वभाव को ही स्पष्टतया स्वीकार कर, उसमें कहीं रागादि दिखाई ही नहीं देते; जब कि रागादिक हैं ही नहीं, तब फिर उनके निषेध का विकल्प कैसा? स्वभाव की श्रद्धा को किसी भी विकल्प का अवलम्बन नहीं होता। जिस स्वभाव में राग नहीं है, उसकी श्रद्धा भी राग से नहीं होती। इस प्रकार सिद्ध के समान अपने आत्मा के ध्यान के द्वारा मात्र चैतन्य पृथक् अनुभव में आता है, और वहाँ सर्व व्यवहार का निषेध स्वयमेव हो जाता है। यही साधक दशा का स्वरूप है।

दुःख से मुक्त होने और सुखी होने का सच्चा उपाय

[पंचास्तिकाय गाथा १०४ पर पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन]

जिसे ऐसा लगता है कि मैं स्वयं दुःखी हूँ और जो उस दुःख को दूर करके सुखी होना चाहता है, उसे आचार्यदेव दुःख को नाश करने और सुखी होने का क्रम बतलाते हैं। पहले यह प्रतीति होनी चाहिये कि स्वयं वर्तमान में दुःखी है। जिसे शरीर, रुपया-पैसा, स्त्री, मान, प्रतिष्ठा इत्यादि की अनुकूलता हो और उसी में जिसने सुखबुद्धि से अपने को सुखी मान रखा हो-ऐसा जीव अपने को दुःखी माने बिना दुःख को दूर करने का उपाय ही क्यों करेगा? इसमें पात्रता का वर्णन भी आ गया; सो कैसे? यह बताते हैं-जिसे शरीर और रुपया पैसा इत्यादि में सुख प्रतीत नहीं होता किन्तु जिसे ऐसा प्रतीति हो गई है कि सुख कहीं इससे भिन्न है, और इसलिये शरीर, रुपया - पैसा, स्त्री इत्यादि में से तीव्र रुचि हट गई है और जो यथार्थ सुख के उपाय को समझने का तीव्र जिज्ञासु हुआ है एवं इस प्रकार जिसे संसार में दुःख भासित हुआ है और उससे मुक्त होने को जिज्ञासा जागृत हुई है, ऐसे पात्र जीव को यहाँ सुख का उपाय बताया जाता है।

संसार की चारों गतियों में दु:ख है। जिस भाव से स्वर्ग का भव धारण करना पड़ता है अथवा मनुष्य का भव धारण करना पड़ता है, वह भाव भी दु:खदायक है। चैतन्य के सहज वीतरागी आत्मानंद का जहाँ विरह है, वहीं दु:ख है। इस दु:ख का कारण कोई परपदार्थ नहीं किन्तु अपना अज्ञानभाव और रागद्वेष ही है। उस दु:ख को दूर करने के लिये किन्हीं अन्य पदार्थों को दूर नहीं करना है किन्तु यथार्थ समझ के द्वारा अपने अज्ञानभाव और राग-द्वेष को ही दूर करना है। यह धारणा मिथ्या है कि—'यदि अमुक परवस्तु मुझे मिले तो मैं सुखी होऊँ;' किन्तु यह उपाय सच्चा है कि 'परवस्तु में मेरा सुख है ही नहीं, इसलिये स्वभाव की पहिचान करके परवस्तु की ममता को छोड़ दूँ, तो मैं सुखी हो जाऊँ।' जिसे परवस्तु को प्राप्त करके सुखी होने की भावना है, उसे अपने स्वाधीन सुखस्वभाव का विश्वास नहीं है।

इस ग्रंथ का रहस्य शुद्धात्म पदार्थ है, उसका प्रथम ज्ञान करना ही सुख का उपाय है। अपना अंतरंग स्वभाव पूर्ण है, उसे जानना ही ज्ञान का प्रयोजन है, इसके अतिरिक्त अन्य सब अप्रयोजनभूत है। यदि शास्त्रों का ज्ञान करे किन्तु शुद्धात्मस्वभाव को न जाने तो जीव का कल्याण नहीं हो सकता। आत्मस्वभाव को जानने में जो ज्ञान लग जाता है, उस ज्ञान में अपूर्व पुरुषार्थ है, वह अज्ञानी को प्रतिभासित नहीं होता। अंतरंग स्वभाव में जो ज्ञान उन्मुख होता है, उसकी महिमा को अज्ञानी नहीं जानता किन्तु बाह्य में अनेक शास्त्रों को जानने में जो ज्ञान लगता है, उसी की महिमा से अज्ञानी जीव प्रभावित होता है; उसे स्वाश्रय स्वभाव के प्रति रुचि नहीं किन्तु पराश्रय और विकार की ही रुचि होती है।

पराश्रयता को छुड़ाने के लिये यहाँ कहते हैं कि छह द्रव्य और नव पदार्थों को जानना इस ग्रंथ का प्रयोजन (तात्पर्य) नहीं है किन्तु शुद्धात्मा को जानकर वीतरागभाव को प्रगट करना ही इस ग्रन्थ का तात्पर्य है। शुद्धात्मपदार्थ को लक्ष करके ज्ञान करना ही प्रयोजन है। परपदार्थ का आश्रय नहीं, पाप का आश्रय नहीं, पुण्य का भी आश्रय नहीं, भेद व्यवहार का भी आश्रय नहीं, और इस प्रकार सभी का आश्रय छोड़कर मात्र शुद्धात्मा को लक्ष में लेकर उसके आश्रय में स्थिर होना ही कर्तव्य है। शुद्धात्मा को समझकर, उसका अनुसरण करके ही परिणमन करने का जो उद्यम है, सो वही एक कर्तव्य है और वही सुख का उपाय है, एवं वही सर्व शास्त्रों का सार है। आत्मा के लक्ष के बिना पर को देखना-जानना तो अनादि काल से हो रहा है, तब फिर पर को जानने में, चाहे वे शास्त्र हों या देव-गुरु हों, किन्तु उससे जीव का कल्याण नहीं होता; इसलिये यहाँ कहा है कि स्वसन्मुख

होकर शुद्धात्मा को जानना ही कल्याण का कारण है।

अव्रत भाव और आसक्ति भाव को छुड़ाने से पूर्व आत्मज्ञान कराने को तत्त्वार्थसार के पृष्ठ ३०२ में कहा है कि—'कारण के नाश से कार्य भी नष्ट हो जाता है, इसलिये विषयासक्ति घटाने से प्रथम ही आत्मज्ञान उत्पन्न करने का आचार्यदेव उपदेश देते हैं।' मिथ्यात्व ही आसक्ति का मूल है। पहले तत्त्वज्ञान अर्थात् शुद्धात्मा का ज्ञान हुए बिना अव्रत या आसक्ति छूट ही नहीं सकती। दु:ख से छूटने की यही रीति है। जिसे अज्ञान और रागादि में दु:ख ही प्रतीत नहीं होता और रुपया-पैसा इत्यादि के होने से उसी में परम तृप्त रहता है-ऐसा जीव भी अपने इस कार्य में स्वतंत्र है,—ऐसे अनन्त संसारी को तत्त्व की बात नहीं रुचती। किन्तु जिसे अज्ञानदशा का दु:ख प्रतिभासित होता है और उससे छूटकर मुक्त होने की जिसकी प्रबल आकांक्षा है—ऐसे अल्प संसारी के लिये उपाय बताते हैं कि शुद्धात्मा को जानना ही मूल प्रयोजन है।

जैसे बगुला नदी के किनारे पर जाकर एक पैर से खड़ा होकर एकाग्र हो जाता है किन्तु उसका ध्यान मछलियों के पकड़ने में होता है; इसी प्रकार कोई जीवतत्त्व का उपदेश सुनने को जाये किन्तु वहाँ शुद्ध चैतन्य को ध्यान में या लक्ष में न ले और सांसारिक कार्यों के विचार में तल्लीन हो जाये तो उसे कोई लाभ नहीं हो सकता। सांसारिक विचारों को छोड़कर शुद्धस्वभाव को लक्ष में लेकर उस ओर परिणत करके उद्यमी होना ही दु:ख से मुक्त होने का उपाय है।

भेदविज्ञानी जीवों ने स्वाश्रय की प्रतीति के द्वारा मिथ्यात्व का तो अभाव किया है; फिर वे क्या करते हैं? उसके बाद कोई पराश्रय करना नहीं होता किन्तु जिस स्वाश्रय स्वभाव की श्रद्धा से पर में सुखबुद्धिरूप मिथ्यात्व का अभाव किया, उसी स्वभाव के आश्रय से विशेष पुरुषार्थ के द्वारा आत्मा के अनाकुल शांत उपशमरस में मग्न होकर रागद्वेष से रहित हो जाते हैं और बन्ध का नाश करके मुक्ति सुख का अनुभव करते हैं, इस प्रकार धर्म के प्रारम्भ से लेकर उसकी परिपूर्णता तक स्वाश्रय ही है, पराश्रयभाव से धर्म नहीं होता। आत्मा के स्वभाव का लक्ष करके प्रयत्न करना, सो धर्म पुरुषार्थ है, वह धर्म की क्रिया है, और वही सुखी होने का उपाय है।●●

द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि तथा उसका प्रयोजन

[नियमसार प्रवचन की चर्चा से]

गुण-पर्यायों का पिंड द्रव्य है। आत्मद्रव्य अपने स्वभाव से टिका हुआ है, राग के कारण नहीं। आत्मा के स्वरूप में राग नहीं है और राग के द्वारा आत्मस्वरूप की प्राप्ति नहीं होती।

त्रिकाल द्रव्यस्वरूप को स्वीकार किये बिना सम्यक्दर्शन नहीं होता क्योंकि पर्याय तो एक समयमात्र की ही होती है, और दूसरे समय में उसकी नास्ति हो जाती है, इसलिये पर्याय के लक्ष से एकाग्रता या सम्यक्दर्शन नहीं हो सकता। केवलज्ञान भी एक समयमात्र की पर्याय है, परन्तु ऐसी अनन्तानन्त पर्यायों को अभेदरूप से संग्रह करके द्रव्य विद्यमान है, अर्थात् अनंत केवलज्ञान पर्यायों को प्रगट करने की शक्ति द्रव्य में है, इसलिये केवलज्ञान की महिमा से द्रव्यस्वभाव की महिमा अनन्तगुनी है। इसे समझने का प्रयोजन यह है कि पर्याय में एकत्वबुद्धि को छोड़कर द्रव्यस्वभाव में एकत्वबुद्धि का करना। एकत्वबुद्धि का अर्थ 'मैं यही हूँ' - ऐसी मान्यता है। पर्याय के लक्ष से 'यही मैं हूँ' इसप्रकार अपने को पर्याय जितना न मानकर, त्रिकाल द्रव्य के लक्ष से 'यही मैं हूँ' इसप्रकार द्रव्यस्वभाव की प्रतीति करना, सो सम्यक्दर्शन है। केवलज्ञानादि कोई भी पर्याय एक समयमात्र की अस्तिरूप है, दूसरे समय में उसकी नास्ति हो जाती है; इसलिये आत्मा को पर्याय जितना मानने से सम्यक्दर्शन नहीं होता, और जो द्रव्यस्वभाव है, सो वह त्रिकाल एकरूप सत् अस्तिरूप है। केवलज्ञान प्रगट हो या न हो, इसकी भी जिसे अपेक्षा नहीं है—ऐसे उस स्वभाव को मारने से ही सम्यक्दर्शन प्रगट होता है।

एक अवस्था में से दूसरी अवस्था नहीं होती; वह द्रव्य में से ही होती है अर्थात् एक पर्याय स्वयं दूसरी पर्याय के रूप में परिणमित नहीं होती किन्तु क्रमबद्ध एक के बाद दूसरी पर्याय के रूप में द्रव्य का ही परिणमन होता है; इसलिये पर्यायदृष्टि को छोड़कर द्रव्यदृष्टि के करने से ही शुद्धता प्रगट होती है।

पर्याय खंड-खंड रूप है, वह सदा एक समान नहीं रहती और द्रव्य अखंडरूप है, वह सदा एक समान रहता है। इसलिये द्रव्यदृष्टि से शुद्धता प्रगट होती है।

पर्याय क्षणिक है, द्रव्य त्रिकाल है; त्रैकालिक के ही लक्ष से एकाग्रता हो सकती है और धर्म प्रगट होता है, किन्तु क्षणिक के लक्ष से एकाग्रता नहीं होती, तथा धर्म प्रगट नहीं होता। पर्याय

क्रमवर्ती स्वभाववाली होती है, इसलिये वह एक समय में एक ही होती है, और द्रव्य अक्रमवर्ती स्वभाववाला अनंत पर्यायों का अभिन्न पिंड है जो कि प्रति समय परिपूर्ण है; छद्मस्थ के वर्तमान पर्याय अपूर्ण है और द्रव्य पूर्ण है, इसलिये परिपूर्णता के लक्ष से ही सम्यक्दर्शन और वीतरागता प्रगट होती है; अपूर्णता के लक्ष से ही सम्यग्दर्शन या वीतरागता प्रगट नहीं होती, परन्तु उल्टा राग उत्पन्न होता है। सम्यक्दर्शन के बाद भी जीव को परिपूर्णता के लक्ष से ही क्रमशः चारित्र-वीतरागता और सर्वज्ञता प्रगट होती है।

मुमुक्षुओं के ऊपर के अनुसार द्रव्य और पर्याय का यथार्थ ज्ञान करके, त्रिकाल द्रव्य स्वभाव की ओर रुचि (उपादेयबुद्धि) करके वहीं एकता करनी चाहिये और पर्याय की एकत्वबुद्धि छोड़ देनी चाहिये। यही धर्म का उपाय है।

जिसके पर्यायदृष्टि होती है, वह जीव, राग को अपना कर्तव्य मानता है और राग से धर्म होना मानता है, क्योंकि पर्यायदृष्टि में राग की ही उत्पत्ति है; और राग का सम्बन्ध परद्रव्यों के साथ ही होता है, इसलिये पर्यायदृष्टिवाला जीव, परद्रव्यों के लक्ष से परद्रव्यों का भी अपने को कर्ता मानता है—इसी का नाम मिथ्यात्व है, यही अधर्म है।

किन्तु जिसकी दृष्टि द्रव्यस्वभाव की हो गई है, वह जीव कभी राग को अपना कर्तव्य नहीं मान सकता और न उसमें धर्म ही मानता है, क्योंकि स्वभाव में राग का अभाव है। जो पर्याय के राग कर्तृत्व भी नहीं मानता, वह परद्रव्य का कर्तृत्व कैसे मानेगा? अर्थात् उसके पर से, राग से भिन्न स्वभाव की दृष्टि में ज्ञान और वीतरागता की ही उत्पत्ति हुआ करती है—इसी कानाम सम्यक्दृष्टि है, और यही धर्म है।

इसलिये सभी आत्मार्थी जीवों को अध्यात्म के अभ्यास के द्वारा द्रव्यदृष्टि करनी चाहिये, यही प्रयोजनभूत है। द्रव्यदृष्टि कहो या शुद्धनय का अवलम्बन कहो, निश्चयनय का आश्रय कहो या परमार्थ, सब एक ही है।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

कैसा जीवन व्यतीत करना चाहिये?

हे जीव! तूने आत्मा को भूलकर, देहदृष्टि रखकर अनन्त जीवन व्यतीत किये, तथापि उसके बाद भी तेरे भवभ्रमण का दुःख तो ज्यों का त्यों बना ही रहा; किन्तु अब सत् पुरुषों की आज्ञानुसार आत्मदृष्टिपूर्वक एक जीवन तो ऐसा व्यतीत कर कि जिसके बाद कोई भव ही धारण न करना पड़े। ●

जैनशासन अर्थात् स्वाश्रय और वीतरागता

[पंचास्तिकाय गाथा १०० पर पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन]

अज्ञानीजन ऐसा मानते हैं कि मेरा काम अमुक पदार्थों के बिना नहीं चल सकता—रोटी, पानी के बिना नहीं चल सकता, रुपया-पैसा के बिना नहीं चल सकता, देव-गुरु-शास्त्र के बिना नहीं चल सकता, इत्यादि पराश्रयता की यह मान्यता ही दु:ख का मूल है। आत्मा का स्वभाव पर से भिन्न ही है, और वह परपदार्थों के बिना त्रिकाल स्वयं स्वत: स्थिर है। सम्पूर्ण संसार परपदार्थों के बिना ही चल रहा है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु में पर का तो अभाव ही है। प्रत्येक आत्मा पर के अभाव स्वरूप है अर्थात् वह सबसे भिन्न है, और सबसे अलग रहकर स्वत: ही स्थिर है; अपने में समस्त परद्रव्यों का अभाव है, तब फिर विचार करो कि किन पदार्थों के बिना आत्मा का काम नहीं चलता? कोई कहे कि खाये-पिये बिना आत्मा का काम नहीं चलता; तो उसके समाधानार्थ कहते हैं कि—खान-पान का तो आत्मा में अभाव ही है। क्या भोजन के परमाणु आत्मा में प्रविष्ट हो जाते हैं? त्रिकाल में भी अन्न-जल आत्मा में प्रवेश नहीं करते, बिना अन्न-जल के ही आत्मा टिका हुआ है। क्या चैतन्यतत्त्व को स्थिर रखने के लिये जड़ का आश्रय होता है? चैतन्यतत्त्व निज पर ही अवलम्बित है, अन्न-जल पर नहीं। जब अन्न-जल नहीं होता, तब भी क्या आत्मा परिणमित नहीं होता? क्या खान-पान के अभाव में आत्मा का परिणमन रुक जाता है?—ऐसा तो कभी नहीं होता, क्योंकि चैतन्यतत्त्व को स्थिर रखने के लिये खान-पान की अपेक्षा नहीं होती। प्रत्येक पदार्थ अपने ही द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, और भाव से टिका हुआ है। ज्ञानी या अज्ञानी, सिद्ध या निगोद, अथवा आत्मा या परमाणु सब का त्रिकाल पर के बिना ही कार्य चल रहा है, मात्र अज्ञानी अपने आश्रय को छोड़कर पराश्रय मानता है, यही भूल है और इसी लिये वह दु:खी होता है।

आत्मा स्वयं अपने असंख्य प्रदेशों में स्थित है और अपने गुणों से परिपूर्ण है, वह अपनी अवस्था में ही परिणमित होता है। वह सदा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से ही स्थित है। पर्याय में जो विकार होता है, वह यद्यपि पर के लक्ष से होता है, तथापि पर के आश्रय पर टिका हुआ नहीं है, कर्म के आश्रय पर भी टिका हुआ नहीं है किन्तु उस पर्याय के ही आश्रय से विकार स्थित है। इसी प्रकार कर्म भी जीव के विकार के आश्रय पर अवलम्बित नहीं हैं, किन्तु वे स्वयं उसकी अवस्था से स्थित हैं।

इस प्रकार छहों द्रव्य स्वतंत्र हैं, कोई किसी के आश्रय से स्थित नहीं हैं। छहों द्रव्यों की निरपेक्षता बताकर, पराश्रय से छुड़ाकर, स्वाश्रय स्वभाव की ओर उन्मुख करने का ही प्रयोजन है, छह द्रव्यों के लक्ष में उलझने का प्रयोजन नहीं है।

जीव, परद्रव्यों के आश्रय पर अवलम्बित नहीं है, क्योंकि यदि वह पराश्रय पर अवलम्बित हो तो उसका स्वतंत्र अस्तित्व क्या रहेगा? जीव न तो किसी परद्रव्य से टिका हुआ है और न वह किसी से दु:खी होता है। अपनी पर्याय में जो विकार होते हैं, उन विकारों के आश्रय से ही जीव स्थित नहीं है; क्योंकि विकार का तो सर्वथा नाश हो जाता है, इसलिये यदि जीव विकार के आश्रित हो तो विकार के साथ ही उसका भी नाश हो जायेगा। सच तो यह है कि जीव अपने ज्ञान से स्थित है। ज्ञान के बिना उसका एक क्षण भी नहीं चल सकता। यह जानकर परद्रव्य के आश्रय की बुद्धि तथा विकार के आश्रय की बुद्धि को छोड़कर स्वभाव के आश्रय में स्थित होना ही तात्पर्य है।

तीनों काल के तीर्थंकरों का एक ही प्रकार का उपदेश है कि-तू सर्व का ज्ञाता दृष्टा है, तेरी पर्याय में जो रागादिक होते हैं, उनका भी तू मात्र ज्ञाता है। अपने स्वभाव में अभिन्नता और स्थिरता करना ही तेरा प्रयोजन है। स्वभाव में एकता हो और विकार पर दृष्टि न जाये, यही तात्पर्य है। स्वभाव में अभेद होने से विकार टूट जाता है। जिसकी यह दृष्टि है कि 'विकार तो दूर करूँ' उसकी दृष्टि पर्याय पर है। पर्यायदृष्टि रखने से विकार दूर नहीं होता किन्तु स्वभाव में दृष्टि करके एकाग्रता करते ही विकार दूर हो जाता है। आत्मस्वभाव परिपूर्ण है, उसमें विकार नहीं है, और न भेद ही है:—इस प्रकार अखंड स्वभाव की दृष्टि करने का ही प्रयोजन है। इस अखंड स्वभाव की दृष्टि करना ही ऐसी प्रतीति है कि 'केवली भगवान ने जैसा देखा हो, वैसा ही होता है' यही वस्तु की क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा है, यही द्रव्यदृष्टि है, यही शुद्धनय के विषय का लक्ष है, यही सम्यक्दर्शन है, यही धर्म है, यही अनन्त शास्त्रों का तात्पर्य है, और यही जीव का प्रयोजन है। इसके बिना अन्य सब बातें मिथ्या हैं। सब में से सार निकालकर यदि इस प्रयोजन को सिद्ध करे तो ही जीव का सबकुछ यथार्थ-सार है। अभेद स्वभाव की मुख्यता और भेद की गौणता अर्थात् आत्मस्वभाव का ही आदर जैन शासन की मूल नींव है।

जीव का मूल प्रयोजन वीतरागभाव है; वीतरागभाव के दो प्रकार हैं:—(१) दृष्टि में वीतरागता, और (२) चारित्र में वीतरागता। पहले दृष्टि में वीतरागता होती है। वह कब होती है सो कहते हैं। मेरे अभिन्न चैतन्यस्वभाव में राग नहीं है; पर्याय में जो राग होता है, सो सम्यक्दर्शन

का—वीतराग दृष्टि का कारण नहीं किन्तु उस राग के साथ की एकता मिथ्यात्व का कारण है, और उस राग का आश्रय छोड़कर स्वभाव की एकता करना, सो सम्यक्त्व का कारण है। इस प्रकार जानकर अभेद स्वभाव की मुख्यता करने पर वीतरागदृष्टि प्रगट होती है और वहाँ राग का निषेध स्वयं होता है। व्यवहार का आश्रय मानना, सो मिथ्यात्व है, और स्वभाव के आश्रय से व्यवहार के आश्रय का लोप करना, सो सम्यक्दर्शन है। 'आत्मा में ज्ञानादि अनन्त गुण हैं' ऐसा कहने पर यदि अभिन्न आत्मस्वभाव को लक्ष में ले तो वह प्रयोजन है, किन्तु यह कहना कि 'आत्मा में अनंत गुण हैं' सो व्यवहार है, उसका आश्रय प्रयोजनवान नहीं है। प्रयोजन तो उसका निशेध करके अभेद स्वभाव में उन्मुख होना है। यदि अभिन्न स्वभाव को न समझे और भेद से ही चिपका रहे तो समझना चाहिये कि वह जीव प्रयोजन को नहीं समझा। पर का और आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है,—इसे समझने का प्रयोजन यह है कि-पर के साथ सम्बन्ध नहीं है अर्थात् पर लक्ष से जो विकार होता है; वह मेरा स्वरूप नहीं है, इस प्रकार पर के साथ का सम्बन्ध तोड़कर और अपनी पर्याय का लक्ष छोड़कर अभेद स्वभाव की दृष्टि करना; सो यही आत्मा का प्रयोजन है।

शास्त्र में जहाँ ज्ञानी के भोग को भी निर्जरा का कारण कहा है, वहाँ भी वीतरागदृष्टि कराने का ही एकमात्र प्रयोजन है। भोग के राग को पुष्ट करने का प्रयोजन नहीं है। भोग के समय भी ज्ञानी की वीतरागदृष्टि भी कैसी अबन्ध होती है, और उस समय भी उसे स्वभाव की श्रद्धा कैसी होती है—यह जानने-समझने का प्रयोजन है।

प्रथमानुयोग हो, चरणानुयोग हो या करणानुयोग हो—इन सब का प्रयोजन राग से छुड़ाकर वीतरागता को पुष्ट करना ही है। यदि त्रिकाल शुद्धस्वभाव की वीतरागदृष्टि न करे तो जानना चाहिये कि वह करणानुयोग इत्यादि किसी विधि को नहीं समझा है। अनेक व्यवहार के आग्रही कहते हैं कि चरणानुयोग में तो शुभराग की क्रियाओं का वर्णन है। परन्तु उसका तात्पर्य क्या है? क्या चरणानुयोग राग करने को कहता है? नहीं, चारों अनुयोगों के कथन का तात्पर्य वीतरागभाव ही है।

समस्त पदार्थों की क्रमबद्ध अवस्था होती है, मेरा किसी परपदार्थ में अधिकार नहीं है,-यह समझकर स्वाश्रय करना और पर के प्रति उदास होना प्रयोजन है। क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धावान के अपनी पर्याय में भी उदासीनता होकर द्रव्यदृष्टि हुई होती है। कोई जीव क्रमबद्धपर्याय की बात करे परन्तु पर से किंचित्मात्र भी उदासीन न हो और स्वाश्रय में उन्मुख न हो तो वह मात्र बातूनी है,

उसने तात्पर्य को नहीं समझा है। किसी भी एक यथार्थ न्याय को समझे तो उसमें से स्वाश्रय और वीतरागता के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं निकलता।

शास्त्र में जो व्यवहार की बात आये, उसी में चिपटा रहे परन्तु यह न समझे कि व्यवहार का तात्पर्य परमार्थ में ले जाना है, तथा जो व्यवहार का आश्रय छोड़कर निश्चय के आश्रय से प्रतीति न करे, व्यवहार के निषेध को स्वीकार न करे, परमार्थ का उल्लास न करे और परमार्थ की बात में बीच में व्यवहार को लाकर रख दे, ऐसे जीव सत् का उपदेश श्रवण करने के योग्य नहीं हैं। पुरुषार्थ-सिद्धि उपाय की छट्ठी गाथा में कहा है कि जो जीव केवल व्यवहार को ही परमार्थ समझ लेता है, वह जीव उपदेश को सुनने योग्य नहीं है। व्यवहार का हेतु परमार्थ को बताना है, उसकी जगह जो व्यवहार में ही अटक गया है, वह जीव वीतरागता की ओर उन्मुख नहीं होता किन्तु वह राग को ही पुष्ट करता है। शुद्धस्वभाव की श्रद्धा और स्थिरतारूप वीतरागभाव तथा राग का निषेध—यही प्रयोजन है।

कोई यह माने कि 'ऐसा काम नहीं करना चाहिये जिससे किसी दूसरे को दुःख हो—यही सबका सार है'; तो यह बात भी मिथ्यादृष्टि की है। इसमें एकान्त पराश्रय और परलक्ष आता है। दूसरे जीवों के सुख-दुःख अपने आधीन हैं ही नहीं। मैं अपने परिणामों में कषाय न करूँ और जो कषाय हो उसे छोड़ दूँ—इस प्रकार माने तो उसे अपनी ओर देखने का अवकाश है। वास्तव में तो 'अपने में जो कषाय हो, उसे छोड़ दूँ' यह बात भी पर्यायदृष्टि की है, नास्ति की है, त्याग की है। कषाय है और उसे छोड़ूँ, यह दोनों बातें पर्यायदृष्टि की हैं; किन्तु मेरा त्रिकाल स्वभाव राग रहित है—ऐसी वीतराग प्रतीति करने का ही मूल हेतु है, ऐसी वीतराग प्रतीति करने पर राग का निषेध हो जाता है।

आत्मा पर से भिन्न है—इस प्रकार वास्तविक रूप से तब समझा कहा जा सकता है, जब यह समझ ले कि—मैं पर से भिन्न हूँ अर्थात् मुझ में पराश्रय नहीं है;—इस प्रकार समझकर, पराश्रय को छोड़कर स्वाश्रय ग्रहण करे तो ही पर से भिन्नता का यथार्थ ज्ञान है। जीव अपने स्वभाव में स्थिर होकर पर से भिन्नता स्वीकार करता है, परन्तु पर के आश्रय में स्थिर होकर पर से भिन्नता को स्वीकार नहीं कर सकता। 'मैं पर से भिन्न हूँ अर्थात् मेरे तत्त्व को स्थिर रहने के लिये पर की आवश्यकता नहीं है, मेरे ही आश्रय से मेरा तत्त्व स्थिर है, मुझे किसी पर की अपेक्षा नहीं है;'—ऐसा स्वाश्रयभाव करना ही वीतरागता का मूल है और उसी में जीव का सुख है। स्वाश्रयता और वीतरागता ही जैन धर्म की विशेषता है।

.....किन्तु इससे क्या ?

[आत्मानुभव को प्रगट करने का उपाय बतानेवाला एक मननीय व्याख्यान]

आत्मकल्याण का उपाय क्या है, सो बताते हैं। विकल्पमात्र का अवलम्बन छोड़कर जब तक जीव शुद्धात्मस्वभाव का अनुभव न करे, तब तक उसका कल्याण नहीं होता। शुद्धात्मस्वरूप का अनुभव किये बिना जीव जो कुछ भी करता है, वह सब व्यर्थ है–उससे आत्म–कल्याण नहीं होता।

कई जीव यह मानते हैं कि हमें पाँच लाख रुपया मिल जायें तो हम सुखी हो जायें। किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि हे भाई! यदि पाँच लाख रुपया मिल गये तो इससे क्या? क्या रुपयों में आत्मा का सुख है? रुपया तो जड़ है, वे कहीं आत्मा में प्रवेश नहीं कर जाते, और उससे कहीं आत्मा का सुख नहीं है। सुख तो आत्मस्वभाव में है। उस स्वभाव का अनुभव नहीं किया तो फिर रुपया मिलाये इससे क्या? जब कि आत्मस्वभाव की प्रतीति नहीं है, तब रुपयों में ही सुख मानकर, रुपयों के लक्ष से उल्टा आकुलता का ही वेदन करके दु:खी होगा।

प्रश्न—जब तक आत्मा का अनुभव नहीं होता, तब तक व्रत, तप इत्यादि करने से तो कल्याण होता है न?

उत्तर—आत्मप्रतीति के बिना व्रत, तपादि का शुभराग किया तो इससे क्या? यह तो राग है, जिससे आत्मा को बन्धन होता है और उसमें धर्म मानने से मिथ्यात्व की पुष्टि होती है; आत्मानुभव के बिना किसी भी प्रकार सुख नहीं, धर्म नहीं, और कल्याण नहीं होता।

प्रश्न—यदि सम्पूर्ण सुख–सुविधायुक्त विशाल महल बनवाकर उनमें रहे, तब तो सुखी होता है?

उत्तर—यदि विशाल भवनों में रहा तो इससे क्या? क्या भवन में से आत्मा का सुख आता है? महल तो जड़–पत्थर का है, आत्मा कहीं उसमें प्रविष्ट नहीं हो जाता। आत्मा अपनी पर्याय में विकार को भोगता है। अपने स्वभाव को भूलकर महलों में सुख माना, सो यही महा पराधीनता और दु:ख है। उस जीव को बड़े–बड़े भवनों का बाह्य संयोग हो तो इससे आत्मा को क्या? कोई जीव सम्यक् दर्शन के बिना त्यागी हो और व्रत अंगीकार करे किन्तु इससे क्या? सम्यक्दर्शन के बिना धर्म नहीं होता।

किसी जीव ने शास्त्रज्ञान के द्वारा आत्मा को जान लिया, अर्थात् शास्त्रों को पढ़कर या

सुनकर यह जान लिया कि 'मैं शुद्ध हूँ, मेरे स्वरूप में राग-द्वेष नहीं है, आत्मा परद्रव्य से भिन्न है और पर का कुछ नहीं कर सकता,'—तो भी आचार्यदेव कहते हैं कि इससे क्या! यह तो पर के लक्ष से जानना हुआ, ऐसा ज्ञान तो अनन्त संसारी अज्ञानी जीव भी करते हैं; परन्तु स्व सन्मुख पुरुषार्थ के द्वारा विकल्प का अवलम्बन तोड़कर जबतक स्वयं स्वानुभव न करे, तबतक जीव को सम्यक् दर्शन नहीं हो सकता और उसका कल्याण नहीं हो सकता।

समयसार की १४१ वीं गाथा में कहा है कि—'जीव में कर्म बंधा हुआ है तथा स्पर्शित है —ऐसा व्यवहारनय का कथन है।''टीका-.....जीव में कर्म बद्ध-स्पृष्ट है—ऐसा व्यवहारनय का पक्ष है.... जीव में कर्म अबद्धस्पृष्ट है—ऐसा निश्चयनय का पक्ष है।'

अब आचार्यदेव कहते हैं कि :—''किन्तु इससे क्या? जो आत्मा इन दोनों नयों को पार कर चुका है, वही समयसार है-इस प्रकार १४२ वीं गाथा में कहते हैं।'

(नोट-यह गाथा उसकी टीका के साथ श्री समयसार में से पढ़कर देखें।)

परद्रव्यों के संयोग-वियोग से आत्मा को लाभ होता है-इस मान्यता का पहले ही निषेध किया है, और इस स्थूल मान्यता का भी निषेध किया है कि पुण्य से धर्म होता है। इस प्रकार पर की ओर के विचार को और स्थूल मिथ्या मान्यता को छोड़कर, अब जो स्वोन्मुख होना चाहता है—ऐसा जीव एक आत्मा में 'निश्चय से शुद्ध और व्यवहार से अशुद्ध' ऐसे दो भेद करके उसके विचार में अटक रहा है, किन्तु विकल्प से पार हो कर साक्षात् अनुभव नहीं करता; उसे वह विकल्प छुड़ा कर अनुभव कराने के लिये आचार्यदेव ने यह १४२वीं गाथा कही है। अन्य पदार्थों का विचार छोड़कर एक आत्मा में दो विभेदों (पहलुओं) के विचार में लग गया किन्तु आचार्यदेव कहते हैं कि इससे क्या? जब तक वह विकल्प के अवलम्बन में रुका रहेगा, तब तक धर्म नहीं हैं; इसलिये जैसा स्वभाव है, वैसा ही अनुभव कर। अनुभव करनेवाली पर्याय स्वयं द्रव्य में लीन-एकाकार हो जाती है और उस समय विकल्प टूट जाता है; ऐसी दशा ही समयसार है, वही सम्यक् दर्शन है, वही सम्यक्ज्ञान है।

परवस्तु में सुख है या मैं पर का कार्य कर सकता हूँ और मेरा कार्य पर से होता है—यह स्थूल मिथ्या मान्यता है, और आत्मा को अमुक वस्तु खपती है, अमुक नहीं खपती, ऐसा विकल्प भी स्थूल परिणाम है, उसमें धर्म नहीं है; और मैं 'शुद्ध आत्मा हूँ, तथा राग मेरा स्वरूप नहीं है' ऐसे रागमिश्रित विचार करना भी धर्म नहीं है। इस राग का अवलम्बन छोड़कर आत्मस्वभाव का अनुभव करना, सो धर्म है। एक बार विकल्प को तोड़कर शुद्धस्वभाव का अनुभव करने के बाद

जो विकल्प उठते हैं, उन विकल्पों में सम्यक्दृष्टि जीव को एकत्वबुद्धि नहीं होती, इसलिये वे विकल्प मात्र अस्थिरतारूप दोष हैं, परन्तु वे सम्यक्दर्शन या सम्यक्ज्ञान को मिथ्या नहीं करते; क्योंकि विकल्प के समय भी सम्यक्दृष्टि उसका निषेध करता है।

कितने ही अज्ञानी ऐसी शंका करते हैं कि यदि जीव को सम्यक्दर्शन हुआ हो और आत्मा की प्रतीति हो गई हो तो उसे खाने-पीने इत्यादि का राग कैसे होता है ? किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि सम्यक्दृष्टि के राग हुआ तो इससे क्या ?—उस राग के समय उसका निषेधक सम्यक् श्रद्धा और ज्ञान होता है या नहीं ? जो राग होता है, वह श्रद्धा-ज्ञान को मिथ्या नहीं करता। ज्ञानी को चारित्र की कचाई से राग होता है, वहाँ अज्ञानी उस राग को ही देखता है परन्तु राग का निषेध करनेवाले श्रद्धा और ज्ञान को नहीं पहिचानता।

मिथ्यादृष्टि जीव, स्वभाव का अनुभव करने के लिये ऐसा विचार करता है कि 'स्वभाव से मैं अबन्ध निर्दोष-तत्त्व हूँ और पर्यायदृष्टि से बंधा हुआ हूँ'—इस प्रकार मन के अवलम्बन से शास्त्र के लक्ष से रागरूप वृत्ति का उत्थान करता है, परन्तु स्वभाव के अवलम्बन से उस रागरूप वृत्ति को तोड़कर अनुभव नहीं करता, तब तक उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता।

कोई जीव जैनदर्शन के अनेक शास्त्रों को पढ़कर महा पंडित हो गया, अथवा कोई जीव बहुत समय से बाह्य त्यागी हुआ और उसी में धर्म मान लिया, किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि इससे क्या ?-इसमें धर्म कहाँ है ? पर के अवलम्बन में अटककर धर्म मानना मिथ्यादृष्टि का काम है। राग मात्र का अवलम्बन छोड़कर, स्वभाव के आश्रय से निर्णय और अनुभव करना सम्यक्दृष्टि का धर्म है। और उसके बाद ही चारित्रदशा होती है। राग का अवलम्बन तोड़कर आत्मस्वभाव का निर्णय और अनुभव न करे और दान, दया, शील, तप इत्यादि सब कुछ करता रहे तो इससे क्या ? यह तो सब राग है, इसमें धर्म नहीं है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है; रागस्वरूप नहीं। ज्ञानस्वरूप में वृत्ति का उत्थान ही नहीं है। 'मैं त्रिकाल अबन्ध हूँ' ऐसा विकल्प भी ज्ञानस्वरूप में नहीं है। यद्यपि निश्चय से आत्मा त्रिकाल अबन्धरूप ही है। यह बात तो इसी प्रकार ही है, परन्तु जो अबन्धस्वभाव है, वह 'मैं अबन्ध हूँ' ऐसे विकल्प की अपेक्षा नहीं रखता, अर्थात् 'मैं अबन्ध हूँ' ऐसे विकल्प का अवलम्बन अबन्ध स्वभाव की श्रद्धा के नहीं है। विकल्प तो राग है, विकार है; वह आत्मा नहीं है; उस विकल्प के अवलम्बन से आत्मानुभव नहीं होता।

'मैं अबन्धस्वरूप हूँ'—ऐसे विचार का अवलम्बन, निश्चयनय का पक्ष (राग) है और 'मैं बँधा हुआ हूँ'—ऐसे विचार का अवलम्बन, व्यवहार का पक्ष (राग) है। यह नयपक्षबुद्धि मिथ्यात्व है। इस विकल्परूप निश्चयनय का पक्ष जीव ने पहले अनन्त बार किया है, परन्तु स्वभाव का आश्रयरूप निश्चयनय कभी प्रगट नहीं हुआ। समयसार की ग्यारहवीं गाथा के भावार्थ में कहा है कि 'शुद्धनय का पक्ष कभी नहीं हुआ;' यहाँ 'शुद्धनय का पक्ष' कहा है, वह मिथ्यात्वरूप या रागरूप नहीं है, क्योंकि त्रिकाल शुद्धस्वभाव का आश्रय करना, सो उसे ही वहाँ 'शुद्धनय का पक्ष' कहा है और वही सम्यक्दर्शन है। वहाँ जिसे शुद्धनय का पक्ष कहा है, उसे यहाँ 'नयातिक्रान्त' कहा है; और वह मुक्ति का कारण है। ग्यारहवीं गाथा में यह कहा है कि ''प्राणियों के भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादि से ही है''; वहाँ जिसे भेदरूप व्यवहार का पक्ष कहा है उसमें, इस गाथा में कहे गये दोनों पक्ष का समावेश हो जाता है। निश्चयनय के विकल्प का पक्ष करना भी भेदरूप व्यवहार का ही पक्ष है, इसलिये वह भी मिथ्यात्व है।

जैसा शुद्ध स्वभाव है, वैसे स्वभाव का आश्रय करना, सो सम्यक्दर्शन है, किन्तु 'शुद्ध स्वभाव हूँ'—ऐसे विकल्प के साथ एकत्वबुद्धि करना, सो मिथ्यात्व है। आत्मा, रागस्वरूप है-ऐसा मानना, सो व्यवहार का पक्ष है-स्थूल मिथ्यात्व है; और 'आत्मा शुद्धस्वरूप है'-ऐसे विकल्प में अटकना, सो विकल्पात्मक निश्चयनय का पक्ष है-राग का पक्ष है। श्री आचार्यदेव कहते हैं कि 'मैं शुद्ध हूँ'-ऐसे विकल्प के अवलम्बन से आत्मा का विचार किया तो उससे क्या? आत्मा का स्वभाव वचन और विकल्पातीत है। आत्मा शुद्ध और परिपूर्ण स्वभावी है, वह स्वभाव निज से ही है, शास्त्राधार से या विकल्प के आधार से वह स्वभाव नहीं है; और इसलिये उस स्वभाव का अनुभव (निर्णय) करने के लिये किसी शास्त्राधार या विकल्प के आश्रय की आवश्यकता नहीं है, किन्तु स्वभाव के ही आश्रय की आवश्यकता है। स्वभाव का अनुभव करते हुए 'मैं शुद्ध हूँ' इत्यादि विकल्प आ जाता है, परन्तु जब तक उस विकल्प में लगा रहता है, तब तक अनुभव नहीं होता। यदि उस विकल्प को तोड़कर नयातिक्रान्त होकर स्वभाव का आश्रय करे तो सम्यक् निर्णय और अनुभव हो, वही धर्म है।

जैसे तिजोरी में रखे हुऐ एक लाख रुपये वही खाते के हिसाब की अपेक्षा से या गिनती के विचार के कारण स्थित नहीं हैं, किन्तु जितने रुपये हैं, वे स्वयं ही हैं; इसी प्रकार आत्मस्वभाव का अनुभव, शास्त्र के आधार से अथवा उसके विकल्प से नहीं होता, अनुभव तो स्वभावाश्रित है।

वास्तव में स्वभाव और स्वभाव की अनुभूति अभिन्न होने से एक ही है, भिन्न नहीं है। दूसरी ओर यदि किसी के पास रुपया-पैसा (पूँजी) न हों किन्तु वह मात्र वही-खाता लिखा करे और विचार करता रहे-यों ही गिनता रहे तो उससे कहीं उसके पास पूँजी नहीं हो जाती, इसी प्रकार आत्मस्वभाव के आश्रय के बिना मात्र शास्त्रों के पठन-पाठन से अथवा आत्मा-संबंधी विकल्प करने से सम्यक्दर्शन प्रगट नहीं हो जाता।

'शास्त्रों में आत्मा का स्वभाव सिद्ध के समान शुद्ध कहा है' इस प्रकार जो शास्त्रों से माने, उसके यथार्थ निर्णय नहीं होता। शास्त्रों में कहा है, इसलिये आत्मा शुद्ध है-ऐसी बात नहीं है; आत्मा का स्वभाव शुद्ध है, उसे शास्त्रों की अपेक्षा नहीं है, इसलिये स्वभाव के ही आश्रय से स्वभाव का अनुभव करना, सो सम्यक्दर्शन है।

आत्मस्वभाव का अनुभव किये बिना कर्म ग्रन्थ पढ़ लिये तो इससे क्या? और आध्यात्मिक ग्रन्थों को पढ़ डाले तो भी इससे क्या? इनमें से किसी भी कार्य से आत्मधर्म का लाभ नहीं होता। आत्मा करता है, अतः वह कैसा कर्म करे (कैसा कार्य करे) कि उसे धर्म लाभ हो—यह बात इस कर्ताकर्म अधिकार में बताई है। आत्मा, जड़ कर्म को बाँधे और कर्म, आत्मा के लिये बाधक हों-यह बात तो यहाँ है ही नहीं; और 'मैं शुद्ध हूँ'—ऐसा जो मन का विकल्प है, सो भी धर्मात्मा का कार्य नहीं है। किन्तु स्वभाव का अनुभव, स्वभाव के ही आश्रय से होता है; इसलिये शुद्धस्वभाव का आश्रय ही धर्मात्मा का कार्य है।

'आत्मा शुद्ध है, राग मेरा स्वरूप नहीं हैं'—ऐसे विचार का अवलम्बन भी सम्यक्दर्शन में नहीं है, तब फिर देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति इत्यादि से सम्यक् दर्शन होने की बात कहाँ रही? और पुण्य करते-करते आत्मा की पहिचान हो जाती है, या अच्छे निमिततों के अवलम्बन से आत्मा को धर्म में सहायता मिलती है-ऐसी स्थूल मिथ्यामान्यता तो सम्यक्दर्शन से बहुत-बहुत दूर है। दया, दान, भक्ति, व्रत, उपवास, सच्चे देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा, यात्रा और शास्त्रों का ज्ञान-यह सब वास्तव में राग के मार्ग हैं, उनमें से किसी के भी आश्रय से आत्मस्वभाव का निर्णय नहीं होता; क्योंकि आत्मस्वभाव का निर्णय तो अरागी श्रद्धा-ज्ञानरूप है, वीतरागचारित्रदशा प्रगट होने से पूर्व वीतरागश्रद्धा और वीतरागज्ञान के द्वारा स्वभाव का अनुभव करना ही सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान है। और ऐसा अनुभव करनेवाला जीव ही समयसार है। ऐसा अनुभव प्रगट नहीं किया और उपरोक्त दया, दान, भक्ति, व्रत, यात्रा इत्यादि सब कुछ किया तो इससे क्या?—ऐसा तो अभव्य जीव भी करते हैं।

प्रश्न—'सम्यक्दर्शन के बिना व्रत, तप, दान, भक्ति इत्यादि किये तो इससे क्या?' इस प्रकार 'इससे क्या-इससे क्या?' कहकर इन सब कार्यों को उड़ाये देते हो अर्थात् इन दयादि में धर्म मानने का निषेध करते हो; तो हम यह भी कह सकते हैं कि एक मात्र आत्मा की पहिचान करके सम्यक्दर्शन प्रगट किया तो इससे क्या? क्या मात्र सम्यक्दर्शन प्रगट कर लेने से उसी में सब कुछ आ जाता है?

उत्तर—सम्यक्दर्शन हो जाने से उसी में सम्पूर्ण आत्मा आ जाता है। सम्यक्दर्शन के होने पर परिपूर्ण आत्मस्वभाव का अनुभव होता है। जो अनन्त काल में कभी नहीं हुई थी, ऐसी अपूर्व आत्मशान्ति का संवेदन वर्तमान में होता है। जैसा आनन्द सिद्धभगवान को प्राप्त है, उसी भाँति के आनन्द का अंश वर्तमान में अपने अनुभव में आता है। सम्यक्दर्शन के होने पर वह जीव निकट भविष्य में ही अवश्यमेव सिद्ध हो जायेगा। वर्तमान में ही अपने परिपूर्ण स्वभाव को प्राप्त करके सम्यक्दृष्टि जीव कृतकृत्य हो जाता है, और पर्याय में प्रतिक्षण वीतराग आनन्द की वृद्धि होती जाती है। वे स्वप्न में भी परपदार्थ को अपना नहीं मानते, और पर में या विकार में सुखबुद्धि नहीं होती। सम्यक्दर्शन की ऐसी अपार महिमा है। यह सम्यक्दर्शन ही आत्मा के धर्म का मूल है। इसलिये ज्ञानी जन कहते हैं कि इस सम्यक्दर्शन के बिना जीव ने सब कुछ किया तो इससे क्या? सम्यक्दर्शन के बिना समस्त व्यर्थ हैं, अरण्य रोदन के समान हैं, बिना इकाई के शून्य समान हैं। यह सम्यक्दर्शन किसी भी पर के आश्रय से या विकल्प के अवलम्बन से नहीं होता, किन्तु अपने शुद्धात्मस्वभाव के ही आश्रय से होता है। स्वभाव का आश्रय लेते ही विकल्प का आश्रय छूट जाता है। किन्तु विकल्प के लक्ष से विकल्प के आश्रय को दूर करना चाहे तो वह दूर नहीं हो सकता।

धर्मी जीव का धर्म, स्वभाव के आश्रय से स्थिर है। उसके सम्यक्दर्शनादि धर्म को किसी पर का आश्रय नहीं है। जबकि यह बात है, तब धर्मी जीव के यदि रुपया, पैसा, मकान इत्यादि का संयोग न हो तो इससे क्या? और यदि बहुतेरे शास्त्रों का ज्ञान न हो तो इससे क्या? धर्मी जीव के यह सब न हों तो इससे कहीं उसके धर्म में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि धर्मी का धर्म किसी पर के आश्रय, राग के आश्रय या शास्त्रज्ञान के आश्रय पर अवलम्बित नहीं है, किन्तु अपने त्रिकाल स्वभाव के ही आधार पर धर्मी का धर्म प्रगट हुआ है, और उसी के आधार पर टिका हुआ है, और उसी के आधार पर वृद्धिंगत होकर पूर्णता को प्राप्त होता है।

धर्म प्रभावना में सहायक होइये

अध्यात्मवेत्ता पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों से प्रेरित होकर काठियावाड़ में हजारों नर-नारी दिगम्बर जैन धर्म के सुदृढ़ श्रद्धालु हो गये हैं; जिसके परिणाम स्वरूप अब इस (काठियावाड़) प्रांत में जहाँ दिगम्बर जैन मन्दिर नगण्य थे, उनके बनाने का उपक्रम हो रहा है।

काठियावाड़ में गिरनारजी के निकट मोटा आंकड़िया नामक एक ग्राम है; जहाँ से आत्मधर्म नामक आध्यात्मिक पत्र और पुस्तकों का प्रकाशन होता है। यहाँ के कई जैन-अजैन परिवार दिगम्बर जैन धर्म के श्रद्धालु हो गये हैं; और पं. परमेष्ठीदासजी जैन भी यहाँ सपरिवार आकर रहने लगे हैं जो कि अपने अनेकान्त मुद्रणालय का संचालन तथा आत्मधर्म और समयसार प्रवचनादि का अनुवाद कार्य कर रहे हैं।

इन सब अनुकूल संयोगों को देखते हुये यह निर्णय किया गया है कि यहाँ पर दिगम्बर जैन चैत्यालय की स्थापना की जाय। चैत्यालय निर्माण का कार्य प्रारंभ हो गया है। अब दि० जैन पंचायतों से निवेदन यह है कि यदि कोई अपने यहाँ के मंदिर से **एक प्रतिष्ठित दिगम्बर जैन प्रतिमाजी प्रदान कर सकें** तो बड़ी कृपा हो। प्रतिमाजी पद्मासन, सफेद पाषाण की सवा-डेढ़ फुट की चाहिये हैं। जो दे सकें वे निम्नलिखित पते पर प्रतिमाजी के विवरण सहित शीघ्र ही लिखने की कृपा करें।

जमनादास रवाणी

आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकड़िया (काठियावाड़)

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

❀ ❀ उत्तम क्षमा धर्म ❀ ❀

[भाद्रपद शुक्ला ५ से १४ तक दशलक्षण पर्व के दिनों में श्री पद्मनन्दि पच्चीसी के आधार से उत्तम क्षमादि दश धर्मों पर पूज्य श्री कानजी स्वामी ने क्रमशः जो व्याख्यान दिये थे उनमें से, उत्तम क्षमा के व्याख्यान का सार यहाँ दिया है।]

१—दशलक्षणपर्व

आज भाद्रपद शुक्ला पंचमी से दशलक्षणपर्व प्रारम्भ होता है। पहला दिन उत्तम क्षमा का है। चारित्रदशा में प्रवृतमान मुनियों के उत्तम क्षमादि दस प्रकार के धर्म होते हैं। इन उत्तम क्षमादि से ही चारित्र दशा प्रगट होती है; वह चारित्र, मोक्ष का कारण है। सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान उस चारित्र का कारण है। सम्यक्दर्शन-ज्ञान को मोक्षमार्ग कहना, सो उपचार है; क्योंकि जिसे सम्यक्दर्शन-ज्ञान हो चुके हैं, उसे अल्पकाल में ही सम्यक्चारित्र अवश्य प्रगट होता है; इसलिये

सम्यक्दर्शन के होते ही मोक्षमार्ग कह दिया है किन्तु मोक्ष के लिये साक्षात् कारण तो वीतराग-चारित्रदशा है। उस चारित्रदशा के उत्तम क्षमादि दस प्रकार हैं। इस उत्तम क्षमादि दस प्रकार के धर्मों की आराधना का पर्व आज से प्रारम्भ होता है। दशलक्षणपर्व का अर्थ है मोक्ष की आराधना का महोत्सव।

२—उत्तम क्षमा की परिभाषा

आज का दिन 'उत्तम क्षमा' का कहलाता है। सम्यक्दर्शन के बिना उत्तम क्षमा नहीं होती। लोक व्यवहार में शुभभाव को क्षमा कहा जाता है, उसका निषेध करने के लिये यहाँ उत्तम क्षमा कहा है। उत्तम क्षमा का अर्थ है सम्यक्दर्शनपूर्वक वीतरागभावरूप क्षमा।

निश्चय से अपना आत्मस्वभाव त्रिकाल ज्ञायकमूर्ति है। उसका परिचय और बहुमान करना तथा राग-द्वेष क्रोधादि की रुचि को छोड़ना ही उत्तम क्षमा की सच्ची आराधना है। आत्मस्वभाव का अनादर करके पुण्य-पाप की रुचि करना ही क्रोध है, और आत्मस्वभाव के आदर के द्वारा पुण्य-पाप की रुचि को छोड़ देना ही उत्तम क्षमा है।

३—पर्व किसका ?

दस दिनों को पर्व कहना उपचार मात्र है। आत्मा के स्वभाव के परिचयपूर्वक चारित्र धर्म की दस प्रकार आराधना करना ही साधक जीव का सच्चा पर्व है। पर्व का अर्थ है आराधना। उस आराधना का आरोप करके अमुक दिवस को भी पर्व कहना, सो व्यवहार है। किन्तु जो आत्मा अपने में आराधकभाव प्रगट करता है, उसके लिये अमुक दिन को व्यवहार से पर्व कहा जाता है। किन्तु जिसे आत्मा की प्रतीति नहीं है, उसे जब कि अपने में ही पर्व नहीं है तो फिर अमुक दिवस में भी किसका उपचार किया जाये ?

४—उत्तम क्षमा कब होती है ?

आत्मा की पर्याय में जो पुण्य-पाप हो, उसकी रुचि का होना ही अनन्त क्रोध है। ज्ञायक-स्वभाव की रुचि के द्वारा उस क्रोध का नाश करना ही उत्तम क्षमारूप चारित्रदशा के प्रगट करने का बीज है। और स्वभाव की रुचि के बाद विशेष स्थिरता के द्वारा वीतरागभाव प्रगट करके पुण्य-पाप का नाश करना, सो उत्तम क्षमा है। ऐसी क्षमा मुनिदशा में होती है। आज उस उत्तम क्षमा की आराधना का दिन है। उत्तम क्षमा की आराधना मुनियों के सदा होती है। जीव उस आराधना को चाहे जब कर सकता है, परन्तु आज विशेषरूप से उसका स्मरण करके साधक जीव उसकी भावना करते हैं।

५—पद्मनन्दिशास्त्र के उत्तम क्षमा का स्वरूप

आज मांगलिक रूप में श्री पद्मनन्दि आचार्यकृत पद्मनन्दि पच्चीसी में से उत्तम क्षमा का स्वरूप कहा जा रहा है—

[मालिनी]

जड़जन कृतबाधा क्रोधहासप्रियादृव—
अपि सति न विकारं यन्मनो याति साधोः।
अमलविपुलचित्तैरुत्तमा सा क्षमा दौ,
शिवपथपथिकानां सत्सहायत्वमेति॥८२॥

मूर्ख—अज्ञानी जनों के द्वारा बंधन, क्रोध, हास्य इत्यादि किया जाता है, तथापि साधु पुरुष अपने निर्मल और गंभीर चित्त से विकृत नहीं होते; यही उत्तम क्षमा है। ऐसी उत्तम क्षमा, मोक्षमार्ग के पथिक संतों को वास्तव में सहायता करनेवाली है।

६—उत्तम क्षमा किसके होती है ?

जो उत्तम क्षमादि दश धर्म हैं, उनमें मुख्यतया चारित्र की ही आराधना है, अर्थात उन दश धर्मों का पालन मुख्यतया मुनिदशा में ही होता है; श्रावक के गौणरूप से अपनी -अपनी भूमिका के अनुसार अंशतः होता है। मोक्षमार्ग ही दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप है, जो कि चारित्रदशा में ही होता है। सम्यग्दृष्टि जीवों के नियम से चारित्र प्रगट होता है, इसलिये चौथे-पाँचवें गुणस्थान में भी उपचार से मोक्षमार्ग कहा है। उत्तम क्षमा का अर्थ है सम्यग्दर्शनपूर्वक क्षमा। उत्तम क्षमा मिथ्यादृष्टि के नहीं होती।

७—उत्तम क्षमा के अतिरिक्त अन्य चार क्षमायें

क्षमा के पाँच प्रकार हैं, उनमें से चार तो पुण्य-बन्ध के कारणरूप हैं और पाँचवीं क्षमा को उत्तम क्षमा कहा जाता है, जो कि धर्म है।

(१) 'यदि मैं क्रोध करूंगा तो मुझे हानि होगी, यदि मैं इस समय सहन नहीं करूंगा तो मुझे भविष्य में बड़ी हानि होगी'—ऐसे भाव से क्षमा करना रागरूप क्षमा है। जैसे निर्बल मनुष्य सबल का विरोध नहीं करता, इसी प्रकार, 'यदि मैं क्षमा कर दूँगा तो मुझे कोई कष्ट नहीं पहुँचायेगा'—ऐसे भाव से क्षमा धारण करना, सो बन्ध का ही कारण है। क्योंकि उसमें से क्रोधादि करने की भावना दूर नहीं हुई है। मेरा स्वरूप ही किसी भी प्रसंग पर क्रोध करने का नहीं है, मैं तो ज्ञान का ही

करनेवाला हूँ, ऐसी प्रतीति के बिना कभी भी क्षमा धर्म नहीं हो सकता। जो शुभरागरूप क्षमा होती है, सो वह बन्ध का कारण है, धर्म का नहीं।

(२) यदि मैं क्षमा करूंगा तो मुझे दूसरे की ओर से (अपने सेठ, मालिक या आफीसर इत्यादि से) लाभ होगा; और इसीलिये उनकी नाराजीं या गालियों को चुपचाप सहन कर ले-क्रोध न करे, तो भी वह सच्ची क्षमा नहीं है।

(३) यदि मैं क्षमा नहीं करूंगा तो कर्मबंध होगा और नरकादि दुर्गति में जाना पड़ेगा, इसलिये यदि मैं क्षमा कर दूं तो कर्मबंध नहीं होगा—ऐसे भाव से क्षमा करे तो वह सच्ची क्षमा नहीं है; प्रत्युत वह क्षमा, कर्मबंध का कारण है।

(४) वीतरागदेव की ऐसी आज्ञा है और शास्त्रों में भी यही कहा है कि क्रोधादि नहीं करना चाहिये; इसलिये मुझे क्षमा धारण करनी चाहिये, जिससे मुझे पापबंध न हो। ऐसे भाव से क्षमा रखना भी पराधीन क्षमा है, राग है, उससे धर्म नहीं होता।

८—उत्तम क्षमा धर्म

उपरोक्त चारों क्षमा, बन्ध का कारण हैं। उन चारों में कहीं स्वात्मा का लक्ष नहीं है किन्तु पर लक्ष से ही राग को कम करके क्षमा रखी है, जो कि सहज क्षमा नहीं है। उत्तम क्षमा सहज वीतरागतारूप है। आत्मस्वरूप को भूलकर पुण्य-पाप की रुचि करना, सो महान क्रोध है, और आत्मा के त्रिकाल स्वरूप की रुचि के द्वारा उस शुभाशुभ की रुचि को छोड़ देने से वीतरागी क्षमा भाव प्रगट होता है। मुनिदशा में शरीर को सिंहादिक खा रहे हों, तथापि उस ओर की कोई भावना ही उत्पन्न न हो और अशुभभावना तो कदापि न हो एवं शुभभाव भी उत्पन्न न हो, ऐसी जो आत्मा की उत्कट आनन्दमय वीरता है, सो ही उत्तम क्षमा है, और वही धर्म है। उसमें दुःख नहीं किन्तु आनन्द है। आज उस उत्तम क्षमा धर्म का दिन है। इसलिये पद्मनंदि मुनि ने उत्तम क्षमा का जो वर्णन किया है, वह आज सुनाया जा रहा है।

९—साधक की सहचरी उत्तम क्षमा

उपरोक्त श्लोक में अज्ञानी जीवों को 'जड़ जन' कहा है। जिन्हें चैतन्यस्वरूप आत्मा की खबर नहीं है और जो रागादि को ही आत्मा मानते हैं, उन्हें परमार्थ से 'जड़' कहा गया है। ऐसे अज्ञानियों के कठोर वचन, ज्ञानी जन स्वभावाश्रित रहकर सहन करते हैं, सो उत्तम क्षमा है। साधुजन चाहे जैसे प्रतिकूल प्रसंग पर अपने धीर-वीर स्वभाव से च्युत नहीं होते। आत्मस्वभाव

की अरुचि जिसका लक्षण है—ऐसे क्रोध को छोड़कर जिन्होंने साधकदशा प्रगट की है और फिर स्थिरता के विशेष पुरुषार्थ से धीर होकर ज्ञानस्वरूप में लीन हो गये हैं, ऐसे संतों को यह चिंता नहीं होती कि—बाह्य में कौन प्रतिकूल है और कौन अनुकूल है, किन्तु अपने पुरुषार्थ को स्वभाव में ही समेट कर जो समभावरूप परिणमित होते हैं, उनके उत्तम क्षमा है। मोक्षमार्ग में विचरण करनेवाले साधुओं को वह उत्तम क्षमा सर्व प्रथम सहायक होती है।

मोक्षमार्ग में जाते हुए आत्मा के लिये कोई परपदार्थ सहायक नहीं होता, किन्तु उत्तम क्षमारूप अपनी निर्मल पर्याय ही अपने लिये सहायक है-ऐसा कहकर आचार्यदेव ने मंगलाचरण किया है।

१०—ज्ञानी और अज्ञानी की क्षमा का अन्तर

जिसने अपने चैतन्यस्वरूप की प्रतीति से पुण्य-पाप दोनों को समान माना है और जिसके ज्ञायकदशा प्रगट हुई है—ऐसे मुनि का चित्त धीर और वीर होता है, परिणति में अनन्त धैर्य प्रगट हुआ है, इसलिये मन क्षोभ को प्राप्त नहीं होता और पुरुषार्थ में वीरता है, इसलिये वह स्वभाव में स्थिर होने का कार्य करता है। सम्यक्दृष्टि को ऐसी प्रतीति और ज्ञान होता है कि 'यदि कोई बाहर गाली देता है तो भी किसको ? और स्तुति करता है तो भी किसकी ? वंदन करता है तो किसका ? और सेवा करता है तो किसकी ? यह शरीर मैं नहीं हूँ और मेरी आत्मा को कोई बंधनादि के द्वारा हानि नहीं पहुंचा सकता।' परन्तु उसके बाद विशेष पुरुषार्थ के द्वारा चारित्रदशा के प्रगट होने पर विकल्प भी नहीं उठता और जो सहज क्षमा प्रगट होती है, वह उत्तम क्षमाधर्म है। परंतु कोई जीव मुझे लाठी मार दे और मैं सहन करूँ, यों मानकर जो क्षमा रखता है, सो धर्म नहीं है। पहले तो लाठी शरीर को लगती नहीं है, तथापि मुझे लाठी लग गई, यों मानना सो यही मिथ्यात्व है। बहुत कुछ लाठी मार सहन करे और बन्दूक की गोलियां खुले शरीर पर सहन करे तथा यह माने कि 'मैं बहुत कुछ सहन करता हूँ, इसलिये दूसरे का हित होगा, दूसरे के हित के लिये ही मैं क्षमा करता हूँ'। तो ऐसा माननेवाला जीव मिथ्यादृष्टि ही है; उसके किंचित्मात्र धर्म नहीं है, परमार्थ से उसके स्वरूप की अरुचिरूप महान क्रोध विद्यमान है—ऐसे जीवों की रागरूप क्षमा कभी भी मोक्ष की सहायक नहीं होती, किन्तु वह संसार की ही कारण होती है। ऊपर जो वीतरागी उत्तम क्षमा बताई है, वही मोक्ष की सहायक है; उस उत्तम क्षमारूप चारित्र के द्वारा मुनिजन सम्पूर्ण वीतरागता प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। जिन्हें सम्यक्दर्शन होता है, उन्हें चारित्रदशा प्रगट करने के लिये अनन्त पुरुषार्थ

करना शेष है। चारित्र धर्म नहीं है; धर्म वीतरागता रूप है। सम्यक् आत्मप्रतीतिपूर्वक स्वभाव के सेवन से वीतरागता का प्रगट करना सो आराधना है, और वह मोक्षमार्ग है।

११—पहले परिचय और फिर भावना

ऐसा उत्तम क्षमा धर्म प्रगट करने के लिये पहले उपयोगरूप आत्मा को क्रोधादि से भिन्न पहिचानना चाहिये। इस परिचय के बाद ही उत्तम क्षमादिक सच्ची भावनाऐं हो सकती हैं ॥८२॥

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

बाल-विभाग

गतांक के उत्तर

आत्मधर्म के गतांक में बालकों से जो तीन प्रश्न पूछे गये थे उनके उत्तर इस प्रकार हैं:—

(१) अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु यह पाँच परमेष्ठी हैं। इनमें से अरिहंत और सिद्ध देव हैं।

आचार्य, उपाध्याय और साधु गुरु हैं।

पंच परमेष्ठी में शास्त्र कोई नहीं है, किन्तु अरिहंत, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु की वाणी को शास्त्र कहते हैं।

(२) सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से अवश्य ही मोक्ष प्राप्त होता है।

(३) चारों वस्तुओं में से सम्यक्दर्शन ही अच्छा लगता है, क्योंकि वह आत्मा की वस्तु है, और उससे सुख होता है; अन्य तीनों वस्तुऐं आत्मा से भिन्न हैं।

उत्तर दाताओं की सूची

बाल पाठकों! तुम्हें यह मालूम होना चाहिये कि—'आत्मधर्म' गुजराती और हिन्दी भाषा में अलग-अलग प्रगट होता है। दोनों पत्रों में गतांक से बाल विभाग प्रारम्भ किया गया है। गुजराती भाषा में उत्तर देने वालों के नाम गुजराती आत्मधर्म में, और हिन्दी भाषा में उत्तर देने वालों के नाम हिन्दी आत्मधर्म में छपते हैं। गतांक के प्रश्नों के उत्तर गुजराती विभाग में ६३ और हिन्दी विभाग में

२७ आये हैं। उनमें से गुजराती विभाग के २७ और हिन्दी विभाग के १२ बालकों के सभी उत्तर सही हैं। इस बार सभी उत्तर देने वालों को पारितोषिक पुस्तकें भेजी गई हैं। हिन्दी विभाग के जिन बारह बालक-बालिकाओं के सभी उत्तर सही हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं:—

१-श्री कोमलचंद सागर, २-खगेशचन्द्र शिवपुरी, ३- भागचन्द्र बड़नगर, ४- अनन्तगणेश पलसे बार्शी, ५- हजारीलाल सागर, ६-पुष्पाबाई सिरोज, ७-विजयचन्द्र पाटन, ८-कालूराम पाटन, ९-विमलाबाई खंडवा, १०-राजेन्द्रविजय मैनपुरी, ११-गेंदाकुमारी सरसावा, १२-शिखरचन्द्र बड़ौत।

क्या तुम बताओगे

निम्नलिखित तीन प्रश्नों के उत्तर अपने आप ही ढूंढकर लिख भेजो, और अपने बाल मित्रों से भी उत्तर लिखने को कहो। उत्तरों के साथ प्रश्न लिखने की आवश्यकता नहीं है। उत्तर एक पोस्टकार्ड पर लिखकर भेजा करो। यह तो तुम्हें याद ही होगा कि चौदह वर्ष के बालक बालिका ही उत्तर भेज सकते हैं।

(१) नवतत्त्वों के नाम लिखो और बताओ कि उनमें से कौन, कौन से तत्त्व जीव के लिये लाभकारक हैं ?

(२) निम्नलिखित वस्तुओं में से कौन-कौन सी जीव में होती हैं, और कौन-कौन सी शरीर में होती हैं-ज्ञान, दु:ख, राग, जन्म, रोग, सुख।

(३) निम्नलिखित वाक्यों की भूल सुधारकर, ठीक लिखकर भेजो—

१. मनुष्य के शरीर में बहुत सा ज्ञान है।

२. जीव का लक्षण शरीर है।

३. पुस्तक से ज्ञान प्राप्त होता है।

४. दु:ख शरीर को होता है और सुख आत्मा को होता है।

सूचनायें

१- बाल विभाग में १४ वर्ष तक के बालक बालिकाऐं ही भाग ले सकते हैं, अपने नाम के साथ आयु अवश्य लिखें। उत्तर के साथ अपना पूरा पता लिखना न भूलें।

२- पौष शुक्ला १५ तक उत्तर यहाँ आ जाना चाहिये।

३- जिनके सभी उत्तर सही होंगे, उन्हीं को पारितोषिक दिया जायेगा, और उन्हीं के नाम आत्मधर्म में प्रगट होंगे।

४- हिन्दुस्तान से बाहर के बालक-बालिकाओं के उत्तर माघ कृष्णा अमावस्या तक स्वीकार किये जायेंगे।

५- बालकों! तुम पारितोषिक का लोभ न करके सच्चे तत्त्वज्ञान की ओर उत्साह बढ़ाना, और स्वयं ही सही उत्तर ढूंढकर भेजना।

६- बाल विभाग सम्बन्धी सभी प्रकार के पत्र व्यवहार का और उत्तर भेजने का पता:—

आत्मधर्म बाल विभाग, सोनगढ़ (काठियावाड़)

बाल स्वाध्याय

(१)

जीव का दूसरा नाम आत्मा है।
मैं एक जीव हूँ, अर्थात् मैं एक आत्मा हूँ।
मैं आत्मा हूँ, इसलिये शरीर नहीं हूँ।
शरीर जड़ है, इसलिये वह आत्मा नहीं है।

(२)

अजीव अर्थात् जड़ उसका दूसरा नाम अनात्मा है।
मैं एक जीव हूँ, इसलिये जड़ नहीं हूँ।
मैं एक जीव हूँ, इसलिये अनात्मा नहीं हूँ।
मैं एक आत्मा हूँ, इसलिये अनात्मा नहीं हूँ।
मैं एक जीव हूँ, मैं एक आत्मा हूँ, इसलिये शरीर नहीं हूँ।
मैं जड़ नहीं हूँ, मैं अजीव नहीं हूँ, मैं अनात्मा नहीं हूँ।

(३)

जो शरीर है सो मैं नहीं हूँ इसलिये मैं और शरीर भिन्न हूँ।

जैसे हीरे की अंगूठी में हीरा और अंगूठी अलग-अलग हैं, इसी प्रकार मैं और शरीर अलग-अलग हैं।

जैसे डिब्बे में रखा हुआ गुड़ और डिब्बा दोनों अलग हैं, इसी प्रकार मैं और शरीर अलग अलग हैं।

(४)

जैसे हीरे की अंगूठी में हीरा और अंगूठी एक ही जगह पर हैं, इसी प्रकार मैं और शरीर दोनों एक ही जगह रहते हैं, किन्तु—

जैसे हीरा और अंगूठी भिन्न-भिन्न वस्तु हैं, उसी प्रकार मैं और शरीर भिन्न-भिन्न वस्तु हैं।

जैसे डिब्बे में गुड़ है, उसी प्रकार शरीर में मैं हूँ।

जैसा डिब्बा और गुड़ भिन्न-भिन्न वस्तु हैं, उसी प्रकार मैं और शरीर भिन्न-भिन्न वस्तु हैं। मैं जीव हूँ, और शरीर जड़ है।

(५)

मैं अपने ज्ञान से जानता हूँ।

जो जानता है, वह सावधानी न रखे तो जानने में भूल करता है।

मैं जानता हूँ, इसलिये यदि ज्ञान में सावधानी न रखूं तो जानने में भूल करूंगा।

जो भूल करता है, वही भूल को मिटाता है।

मैंने जानने में भूल की है, इसलिये मैं ही उसे मिटाऊँगा।

(६)

मुझे यह जानना चाहिये कि शरीर और मैं भिन्न हैं, तथापि यदि मैं शरीर को अपना जानूं तो वह मेरे ज्ञान की भूल है।

ज्ञान में भूल करने से दु:ख होता है।

ज्ञान में से भूल दूर होने से सुख होता है।

जड़ में ज्ञान नहीं होता, इसलिये उसमें भूल नहीं होती, और उसे सुख-दु:ख नहीं होता।

(७)

जो जीव, शरीर को अपना मानते हैं, वे दु:खी हैं।

शरीर को अपना मानना सो विपरीत समझ है।

जीव अपने ज्ञान में विपरीत समझ करता है, इसलिये जीव उसे दूर कर सकता है।

दूसरे जीव मेरे ज्ञान में विपरीत समझ नहीं करा सकते, इसलिये मेरी विपरीत समझ को दूसरा कोई दूर नहीं कर सकता।

जीव में विपरीत समझ स्वयं अकेला ही करता है, और स्वयं अकेला ही उसे दूर करता है।

(८)

जीव की विपरीत समझ अधर्म है।

जीव सच्ची समझ धर्म है।

रमण के दादा का क्या हुआ ?

[सामान्य अस्तित्व गुणदर्शक संवाद]

लेखक : मा. हीराचन्द के. शाह

गुरुजी—आज रमण क्यों नहीं आया ?

महेश—आज उसके दादाजी मर गये हैं, इसलिये वह नहीं आया।

गुरुजी—अच्छा; क्या तुममें से कोई यह जानता है कि मर जाने का क्या मतलब है ?

रमेश—हाँ, यह तो सभी जानते हैं कि मरने का अर्थ नष्ट हो जाना है।

गुरुजी—जो कुछ सब लोग कहते हैं या मानते हैं, उसी को बिना विचारे मान लेना ठीक नहीं है। तुम्हें यह विचार करना चाहिये कि नाश किसका होता है ? इस जगत में दो प्रकार की वस्तुऐं हैं, एक जीव और दूसरी अजीव; इनमें से क्या किसी का नाश होता है ?

मगन—नहीं, जीव या अजीव-किसी वस्तु का नाश नहीं होता, किन्तु सभी वस्तुऐं सदा बनी रहती हैं। यद्यपि उनमें परिवर्तन होता रहता है, किन्तु उनका सर्वथा नाश नहीं होता।

गुरुजी—वस्तु का नाश क्यों नहीं होता ?

सुरेश—क्योंकि वस्तु में 'अस्तित्व' नाम का गुण है।

गुरुजी—अस्तित्व किसे कहते हैं ?

दिनेश—अस्तित्व का अर्थ है होना। सभी वस्तुऐं हैं, उनके अस्तित्व का कभी नाश नहीं होता। वस्तु सदा ही बनी रहती है।

गुरुजी—क्या तुमने कभी किसी पुस्तक में अस्तित्व गुण के सम्बन्ध में कुछ पढ़ा है ?

रजनी—जी हाँ; श्री 'जैन सिद्धान्त प्रवेशिका' के ११८ वें प्रश्न में अस्तित्व गुण की बात आई है। उसमें कहा है कि—जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कभी नाश न हो, उसे अस्तित्व गुण कहते हैं।

गुरुजी—ठीक अब विचार करो कि–रमण के दादा क्या (वस्तु) थे ?

वसंत—रमण के दादा एक शरीरधारी जीव थे। वह जीव और शरीर एकत्रित रहते थे, उसे लोग 'रमण के दादा' के नाम से पहिचानते थे।

गुरुजी—क्या तुम यह जानते हो कि रमण के दादा मर गये, इसका क्या मतलब है ?

हेमन्त—रमण के दादा का जीव और शरीर अलग हो गया, इसी को लोग मरण कहते हैं।

गुरुजी—तो फिर यह बताओ कि—रमण के दादा का जीव नष्ट हुआ या नहीं ?

भरत—नहीं; जीव में अस्तित्व गुण है, इसलिये वह नष्ट हो ही नहीं सकता।

गुरुजी—तो फिर वह जीव कहाँ गया ?

विजय—वह जीव दूसरी गति में चला गया। उन्हें धर्म के प्रति प्रेम था, इसलिये वे स्वर्ग में गये होंगे।

गुरुजी—यह ठीक है, कि जीव का नाश नहीं होता, किन्तु रमण के दादा का शरीर—जो कि अजीव था उसका नाश तो हुआ ही होगा ?

निर्मल—नहीं, अजीव वस्तुओं में भी अस्तित्व नाम का गुण है, इसलिये उसका भी नाश नहीं होता।

गुरुजी—शरीर किस वस्तु से बनता है ?

किशोर—पुद्गल नामक अजीव वस्तु से शरीर बनता है।

गुरुजी—पुद्गल क्या होता है ?

कान्ति—पुद्गल बहुत से सूक्ष्म रजकण या उन रजकणों का समूह है; जो कि एकत्रित होते हैं और अलग होते रहते हैं।

गुरुजी—रमण के दादा के शरीर का क्या हुआ ?

विमल—बहुत से रजकण एकत्रित होकर रमण के दादा का शरीर बना था, वे सब बिखर गये, इसलिये लोग कहते हैं कि रमण के दादा का शरीर छूट गया।

गुरुजी—तो क्या उस शरीर के अलग अलग भाग मौजूद हैं ?

शेखर—नहीं; वह शरीर तो जलकर भस्म हो गया, और उसके बहुत से रजकणों की राख हो गई, बहुतों का धुंआ बन गया और बहुत से हवा में उड़ गये।

गुरुजी—जब कि जीव का नाश नहीं हुआ और अजीव का भी नाश नहीं हुआ तो फिर सब लोग ऐसा क्यों कहते हैं कि रमण के दादा मर गये ?

राजीव—सब लोगों को ऐसा ज्ञान नहीं होता, इसलिये लोक व्यवहार में यह कहा जाता है कि रमण के दादा मर गये।

गुरुजी—तब व्यवहार में जो कहा जाता है, उसका सच्चा अर्थ क्या है ?

ज्योति—इसका सच्चा अर्थ यह है कि वास्तव में कोई मरता नहीं है, और न किसी वस्तु का नाश होता है। किन्तु पहले जीव और शरीर एकत्रित दिखाई देते थे और अब वे अलग हो गये हैं। बस, उसका इतना ही अर्थ है।

गुरुजी—क्या कोई जीव मरता है ?

चन्द्रकान्त—नहीं।

गुरुजी—क्या कोई जीव नया उत्पन्न होता है ?

रसिक—नहीं; कोई जीव नया नहीं होता, अर्थात् कोई जीव नया उत्पन्न नहीं होता।

गुरुजी—ऐसा कैसे होता है ?

सुरेन्द्र—क्योंकि वस्तु में अस्तित्व गुण है, इसलिये जगत में जो वस्तु है, उसका कभी नाश नहीं होता। और जो वस्तु नहीं है, वह कभी नई उत्पन्न नहीं होती। किन्तु जो वस्तु है, वह सदा बदलती रहती है।

गुरुजी—इससे तुम क्या समझे ? सभी बालक एक साथ बोलो।

सभी बालक एक साथ बोलते हैं—

मैं एक जीव हूँ।
मुझमें अस्तित्व गुण है।
मेरा कभी नाश नहीं होता।
मैं कभी नहीं मरता।
मैं कभी जन्म नहीं लेता।
मैं अपने ज्ञान से सदा जीता हूँ।
मेरी पर्याय भिन्न-भिन्न होती रहती है।
अजीव वस्तु में भी अस्तित्व गुण है।
उसका कभी नाश नहीं होता।
मैं जीव हूँ, शरीर अजीव है।
मुझ में ज्ञान है, शरीर में ज्ञान नहीं है।
शरीर मुझ से भिन्न है।

गुरुजी—बालकों तुमने अस्तित्व गुण के सम्बन्ध में सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लिया है। मैं तुमहारे उत्तरों से बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। लो, मैं तुम सबको यह एक-एक पुस्तक दे रहा हूँ, तुम इसे पढ़कर विशेष ज्ञान प्राप्त कर सकोगे। हम सब में एक 'वस्तुत्व' नाम का गुण भी है, जिसके सम्बन्ध में फिर कभी कुछ कहेंगे।

****

सिद्धपद प्राप्त करूँ!

मैं अनन्त गुणों का सागर हूँ।
मैं अनन्त ज्ञान का आगर हूँ॥
मैं सुख-शांति का सागर हूँ।
मैं शिव-नगरी का नागर हूं॥
मैं मोह भाव को दूर करूँ।
मैं ज्ञान भाव को प्राप्त करूँ॥
मैं निज आत्मा में लीन रहूँ।
मैं स्वयं सिद्धपद प्राप्त करूँ॥

[मा. हीराचंद के. शाह]

****

आत्मधर्म के प्रचारार्थ लाला भगवानदास रपरिया फिरोजाबाद ने १००/-रु. तथा श्री हरिश्चंद्र छाबड़ा मारोठ ने ५१/- रु. प्रदान किये हैं। धन्यवाद!

****

समयसार प्रवचन हिन्दी का प्रकाशन

इस आध्यात्मिक अनुष्ठान में सहायक होइये!

आपको यह सूचित करते हुये परम हर्ष हो रहा है कि "समयसार प्रवचन" हिन्दी में भी छपना प्रारंभ हो गया है। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत समयसार मूल और श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत संस्कृत टीका पर अध्यात्मयोगी पूज्य श्री कानजीस्वामी ने विस्तृत प्रवचन किये हैं, जिनमें समयसार के मर्म को खोलकर रख दिया गया है। समयसार के रहस्य को इतने विस्तार से प्रगट करनेवाला अभी तक कोई

टीका-ग्रंथ नहीं था। इन प्रवचन-ग्रंथों को पढ़कर समाज परमागम के रहस्य को सरलतापूर्वक समझ सकेगी।

यह समयसार प्रवचन गुजराती भाषा में ४ भागों में मुद्रित हो चुके हैं, जिनका सरल हिन्दी भाषानुवाद पं. परमेष्ठीदासजी जैन न्यायतीर्थ ने किया है; उनमें से प्रथम भाग का मुद्रण भी प्रारंभ हो चुका है। यह समयसार प्रवचन लगभग ९-१० भागों में समाप्त होगा, किन्तु अभी एक वर्ष में पाँच भागों के मुद्रण की योजना की गई है। प्रथम भाग के लगभग ६०० पृष्ठ होंगे, जो कि बहुत जल्दी ही प्रगट हो रहा है।

समयसार प्रवचन के यह भाग फुटकल (खण्डशः) नहीं बेचे जायेंगे; किन्तु जो स्थायी ग्राहक बनेंगे उन्हें पूरा सेट (सभी भाग) क्रमशः दिया जायगा। इसके लिये यह निश्चय किया गया है कि ग्राहक होनेवालों से २५/- पेशगी ले लिये जायें; और पाँच भागों का जो मूल्य होगा (जो कि लगभग २५ रुपया होगा) उसका हिसाब पाँचवाँ भाग भेजते समय कर लिया जायगा।

हम आपसे क्या चाहते हैं ?

इस सम्बंध में हम आपसे यह चाहते हैं कि आप अपने मित्रों और परिचितों को समयसार प्रवचन हिन्दी का ग्राहक बनाइये और शीघ्र ही हमें यह सूचित करने की कृपा कीजिये कि आप अपने द्वारा बनाये गये ग्राहकों के लिये या शास्त्रदानार्थ कितनी प्रतियाँ (सेट) खरीदे लेंगे ? जिससे वैसा प्रबंध अभी से किया जा सके।

आप ऐसा भी कर सकते हैं कि समयसार प्रवचन की कुछ प्रतियाँ अपने यहाँ रख लें, और यथासमय अपने मिलने वालों को दिखाकर एवं प्रेरणा करके उन्हें ग्राहक बनायें। इस प्रकार आपके द्वारा काफी प्रतियाँ बिक सकेंगी।

हम आपके सभी परिचित भाइयों से परिचित नहीं हैं, इसलिये आपको कष्ट देकर आपके द्वारा यह शुभकार्य करवाना चाहते हैं। हमारी भावना है कि समयसार प्रवचन भारत के प्रत्येक ग्राम और नगर में एवं प्रत्येक जिज्ञासु तक पहुँच जाय। इसके लिये आपका सहयोग अत्यावश्यक है।

आशा है आप इस जिनवाणी-रहस्य के प्रचारार्थ समुचित प्रयत्न करेंगे। हम आपके उत्तर की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

आत्मधर्म कार्यालय
मोटा आंकड़िया-काठियावाड़

निवेदक
जमनादास रवाणी

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता.१०-०१-४८
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड